

मोक्षमार्गप्रकाशक प्रश्नोत्तर

(श्री टोडरमल दिगम्बर जैन मुक्त विद्यापीठ के
त्रिवर्षीय सिद्धान्त विशारद पाठ्यक्रम हेतु
सहायक पुस्तक)

संकलन एवं संपादन

पीयूष जैन, जयपुर

प्रकाशक

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-4, बापूनगर, जयपुर-302 015

फोन : 0141-2707458, 2705581

E-mail : ptstjaipur@yahoo.com

प्रथम अधिकार

प्रश्न : 1. मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ का सामान्य परिचय दीजिये ?

उत्तर : यह ग्रन्थ आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी द्वारा ब्रजभाषा में विवेचनात्मक गद्यशैली में लिखा गया है। मात्र 47 वर्ष की अल्पायु में पण्डित टोडरमलजी की असामयिक मृत्यु हो जाने से यह ग्रन्थ पूर्ण नहीं हो सका। उपलब्ध ग्रन्थ 9 अध्याय में विभक्त है।

मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ की अध्यायवार विषयवस्तु

इसके प्रथम अध्याय में मंगलाचरण उसकी सार्थकता तथा प्रयोजन पर विस्तृत चर्चा करने के साथ-साथ पंचपरमेष्ठी का स्वरूप और उनसे प्रयोजनसिद्धि आदि विषयों की विशद विवेचना करते हुए नये ग्रन्थ रचना की आवश्यकता, उद्देश्य और आचार्य परम्परा में प्रमाणिकता पर तार्किक प्रकाश डाला गया है।

यहाँ प्रसंग प्राप्त वक्ता, श्रोता का स्वरूप एवं बांचने-सुनने योग्य शास्त्र कौन हैं - की चर्चा भी की गई है।

संसार अवस्था का स्वरूप नामक दूसरे अध्याय में जीव संसार में कर्मबंध के कारण हैं इसका निर्णय कराते हुए 8 कर्मों के उदय में होने वाली जीव की अवस्था का वर्णन किया गया है।

तृतीय अध्याय में संसार में जीव दुखी है और मोक्ष में सुख है इसकी सिद्धि की गई है।

कर्मोदय तथा पर्याय इन दो दृष्टिकोणों से संसार दुख रूप ही है इसकी सिद्धि करते हुये इन कारणों का अभाव मोक्ष में होने से मोक्ष में ही सुख है - यह बतलाया है।

चतुर्थ अध्याय से संसार के कारणों की विस्तृत चर्चा प्रारंभ होती है।

मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र संसार के कारण हैं और वे अगृहीत गृहीत के भेद से 2 प्रकार के हैं जिसमें से अगृहीत मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र का विस्तृत निरूपण चौथे अध्याय में किया गया है।

5-6-7वाँ अध्याय गृहीत मिथ्यादर्शन ज्ञान-चारित्र की समीक्षा के लिए समर्पित है। जिसमें से 5वें अध्याय में जैनेतर अन्य मतों की दार्शनिक समीक्षा जिस निर्भीकता और कठोरता से की है वह मूलतः पठनीय है।

6वें अध्याय में कुदेव-कुगुरु-कुधर्म की चर्चा करते हुए उनके मानने पूजने का कडक निषेध किया गया है।

7वें अध्याय में जैन मिथ्यादृष्टियों का विवेचन करते हुए यह स्पष्ट किया है कि जैन तत्त्वज्ञान को नयविवक्षा समझे बिना अंगीकार करने में किस प्रकार व्यवहाराभास, निश्चयाभास, उभयाभास खड़े हो जाते हैं। अंत में सम्यक्त्व सम्मुख मिथ्यादृष्टि जीव का स्वरूप और पात्रता का अत्यन्त सुन्दर विवेचन किया गया है।

उपदेश का स्वरूप नामक आठवें अध्याय में टोडरमलजी ने चारों अनुयोगों का प्रयोजन वीतरागता कैसे निकाला जावे इसकी अत्यन्त मौलिक और तार्किक विवेचना प्रत्येक अनुयोग का प्रयोजन, व्याख्यान विधान और दोष कल्पना का निवारण इन तीन बिन्दुओं के आधार से की है।

मोक्षमार्ग का स्वरूप नामक नवमें अध्याय से वास्तविक मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ प्रारंभ होता है, क्योंकि इससे पूर्व के 8 अध्याय तो पीठिका और संसार का स्वरूप-कारण बताने के लिए ही समर्पित हो गये; परन्तु दुर्योग से टोडरमलजी तात्कालिक विषम सामाजिक परिस्थितियों का

शिकार हो गये और एक षड्यंत्र के तहत उन्हें मृत्युदण्ड दे दिया गया फलतः सम्यग्दर्शन की चर्चा प्रारंभ होकर ही यह अध्याय अपूर्ण रह गया।

प्रश्न : 2. मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ के प्रथम अधिकार की विषय-वस्तु का वर्णन करें ?

उत्तर : प्रथम अध्याय में ग्रन्थ की प्रस्तावना के रूप में पंचपरमेष्ठी का स्वरूप, उनके पूज्यत्व का कारण और उनसे प्रयोजन सिद्धि की चर्चा करते हुये मंगलाचरण करने का कारण व उसकी सार्थकता का वर्णन किया है। इसके पश्चात् ग्रन्थ की प्रामाणिकता के संदर्भ में विस्तृत विवेचन करते हुये वक्ता-श्रोता का स्वरूप, वांचने-पढने योग्य शास्त्रों की चर्चा करते हुये मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ की सार्थकता बताई गई है।

प्रश्न : 3. आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी का सामान्य परिचय दीजिये ?

उत्तर : जैनियों की काशी जयपुर (दूंडाड़) निवासी पण्डित टोडरमलजी का समय वि.सं. 1776-77 से 1823-24 (इसा सन् 1719-20 से 1766-67) तक रहा है। आपके पिता का नाम जोगीदास और माता का नाम रम्भादेवी था। आप खण्डेलवाल जाति के गोदीका (जिसे भौंसा व बड़जात्या भी कहते हैं) गोत्रज थे। आपके दो पुत्र थे हरिचन्द्र और गुमानीराम। पण्डित टोडरमलजी की सामान्य शिक्षा भी जयपुर की एक आध्यात्मिक (तेरापंथ) सैली (आध्यात्मिक चर्चा करने वाली दैनिक गोष्ठियाँ : एक प्रकार की पाठशाला) में हुई, जिसका बाद में उन्होंने सफल संचालन भी किया। उनके पूर्व बाबा बंशीधरजी उक्त सैली के संचालक थे।

नोट : विक्रम संवत् में से 57 वर्ष घटाने पर इसा संवत् आता है और इसा संवत् में 527 वर्ष जोड़ने पर वीर निर्वाण संवत् आता है।

यद्यपि उनका अधिकांश जीवन जयपुर में ही बीता, तथापि उन्हें अपनी आजीविका के लिये कुछ समय सिंघाणा रहना पड़ा। वहाँ वे दिल्ली के एक साहूकार के यहाँ कार्य करते थे।

परम्परागत मान्यतानुसार उनकी कुल आयु 27 वर्ष कही जाती रही; परन्तु उनकी साहित्य-साधना, ज्ञान व प्राप्त उल्लेखों को देखते हुए डॉ. हुकमचंदजी भारिल्ल ने अपने 'पण्डित टोडरमल व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व' नामक शोध-ग्रंथ में यह सिद्ध किया है कि वे 47 वर्ष तक अवश्य जीवित रहे।

उपलब्ध प्रमाणों के अनुसार वि. संवत् 1823-24 के लगभग तात्कालिक सामायिक षड्यंत्रों के कारण मात्र 47 वर्ष की उम्र में उन्हें मृत्युदण्ड दे दिया गया।

आप चारों अनुयोगों के अच्छे स्वाध्यायी विद्वान और हिन्दी/संस्कृत व कन्नड़ भाषा के साथ-साथ न्याय/व्याकरण/काव्य शास्त्र के भी अच्छे जानकार थे।

प्रश्न : 4. पण्डित टोडरमलजी की रचनाओं का परिचय दीजिये।

उत्तर : टोडरमलजी की कुल 12 रचनाएं प्राप्त होती हैं, उनके नाम कालक्रमानुसार साहित्य विधा के वर्गीकरण के साथ निम्नानुसार है -

- | | |
|-----------------------------------|-----------------------------------------------------|
| (1) रहस्यपूर्ण चिट्ठी - | वि.सं. 1811 मौलिक ग्रन्थ |
| (2) गोम्मटसार जीवकाण्ड भाषा टीका | सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका
वि. सं. 1818
टीका ग्रन्थ |
| (3) गोम्मटसार कर्मकाण्ड भाषा टीका | |
| (4) अर्थसंदृष्टि अधिकार | |
| (5) लब्धिसार भाषा टीका | |
| (6) क्षपणासार भाषा टीका | |

- | | |
|-------------------------------------|------------------------------------------|
| (7) गोम्मटसार पूजा | वि. सं. 1815-18 मौलिक |
| (8) त्रिलोकसार भाषा टीका | वि. सं. 1815-23
टीका ग्रन्थ |
| (9) समवशरण रचना वर्णन | मौलिक ग्रन्थ |
| (10) मोक्षमार्ग प्रकाशक (अपूर्ण) | वि.सं.1818-23/24
मौलिक ग्रन्थ |
| (11) आत्मानुशासन भाषा टीका | वि.सं. 1818-1823
टीका ग्रन्थ |
| (12) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय भाषा टीका | (अपूर्ण) टीका ग्रन्थ
वि.सं. 1818-1827 |

प्रश्न : 5. प्रथम अध्याय के मंगलाचरण का अर्थ बताइये ?

उत्तर : जो स्वयं मंगलरूप होने से मंगल को करने वाला है, जिसके कारण अरहंतादि पंचपरमेष्ठी महान बने हैं ऐसे वीतराग विज्ञान को नमस्कार करता हूँ। इसप्रकार इष्टदेव के नमस्कारात्मक मंगल कर मैं मोक्षमार्ग को बताने वाले ग्रन्थ को लिखने का कार्य प्रारम्भ कर रहा हूँ, जिससे समस्त समाज (गुण) मिलेगी और अपने स्वरूप (आत्मा) की प्राप्ति होगी।

प्रश्न : 6. वीतराग विज्ञान का क्या अर्थ है ?

उत्तर : विशेष ज्ञान (सम्यग्ज्ञान), विज्ञान की वह शाखा जो वीतरागता प्राप्त करने के उपाय की चर्चा करती है। वीतराग विज्ञान का अर्थ यहाँ कार्य परमात्मा रूप वीतरागी, सर्वज्ञ अरहंत परमेष्ठी/दिव्यध्वनि/जिनवाणी से है, क्योंकि वीतरागता को प्रकट करने वाले ज्ञान को अरहंत परमेष्ठी दिव्यध्वनि के द्वारा बतलाते हैं। प्रकारान्तर से हम इसका अर्थ कारण परमात्मा अर्थात् शुद्धात्मा (दृष्टि का विषय

भगवान आत्मा) भी ले सकते हैं; क्योंकि उसके आश्रय से ही मोक्षमार्ग का प्रारम्भ और पूर्णता होती है। इसप्रकार वीतराग विज्ञान शब्द का अर्थ अरहंत परमेष्ठी/दिव्यध्वनि/शुद्धात्मा किया जा सकता है।

प्रश्न : 7. वीतराग विज्ञान को नमन करने का क्या अर्थ है ?

उत्तर : देव-शास्त्र-गुरु को प्रणाम यह नमस्कार का सामान्य अभिधेय हैं। वीतराग विज्ञान का अर्थ कारण परमात्मा रूप शुद्धात्मा लेने पर नमन करने का अर्थ दृष्टि के विषय भगवान आत्मा में 'यही मैं हूँ' - ऐसे अपनेपन से जानना, उसमें एकत्व स्थापित करना है और यदि वीतराग-विज्ञान का अर्थ कार्य परमात्मा अरहंत परमेष्ठी किया जावे तो नमन का अर्थ - अरहंत परमेष्ठी द्वारा बताये मोक्षमार्ग को स्वीकार कर उस पर चलना है।

प्रश्न : 8. 'जातें मिले समाज सब' पद का क्या अर्थ है ?

उत्तर : समाज शब्द का एक अर्थ यहाँ अपने अनंत गुणात्मक निज शुद्धात्मा की प्राप्ति से है; क्योंकि अपनी आत्मा की अनुभूति ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य रूप मोक्षमार्ग के प्रारम्भ और पूर्णता में कारण है। समाज का दूसरा अर्थ यदि समुदाय करें तो वीतराग-विज्ञानता अर्थात् सम्यग्ज्ञान से समाज में राग-द्वेष का वातावरण मिटकर स्नेह सौहार्द एकता का वातावरण बनता है। पाप से भयभीत होकर धर्ममार्ग पर लगकर समाज सम्मिलित रूप से अपनी उन्नति में अग्रसर होता है।

प्रश्न : 9. अरहंत की परिभाषा में आये हुये शब्दों का अर्थ बताइये ?

उत्तर : गृहस्थपना त्यागकर - बहिरंग और अंतरंग दोनों प्रकार से सांसारिक समस्त विषयों, आरंभ व परिग्रह का त्याग।

देवाधिदेवपना - देवों के भी देव ऐसे सच्चे देवरूप वीतरागी सर्वज्ञ हितोपदेशी होना।

परम औदारिक शरीर - समस्त संसारी जीवों के औदारिक शरीर के आश्रय से अनंत निगोदिया जीव होते हैं, अरहंत बनते ही (13वें गुणस्थान में) औदारिक शरीर निगोदिया जीवों से रहित हो जाता है। इस शरीर को परम औदारिक शरीर कहते हैं।

निजस्वभाव साधन - अपनी आत्मा के ध्यान द्वारा।

धर्मतीर्थप्रवर्तक - दिव्यध्वनि के द्वारा मोक्षमार्ग का उपदेश देकर धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करने वाले।

प्रश्न : 10. सिद्धों की परिभाषा में आये विशिष्ट शब्दों का अर्थ बताइये?

उत्तर : ऊर्ध्वगमन स्वभाव - आत्मा अग्नि की लौ की भाँति ऊपर की ओर गमन करने के स्वभाव वाला होता है, इसलिये मुक्तात्मा कर्म के बोझ से मुक्त होते ही ऊपर (सिद्धालय) की ओर गमन करता है।

चरम शरीर - अंतिम शरीर को (जिसके पश्चात् नियम से मोक्ष की प्राप्ति होती है) चरम शरीर कहते हैं।

चरम शरीर से किंचित् न्यून पुरुषाकार - कर्मबंध सहित होने से सिद्धालय में आत्मा स्वदेह प्रमाण रहता है अर्थात् जिस पर्याय से मुक्त होता है, उस आकार प्रमाण। कर्मबंध का अभाव होने पर मुक्तात्मा सिद्धालय में अपने चरम शरीर से किंचित् न्यून (क्योंकि शरीर में मुंह-पेट-नाक इत्यादि अंगों का खाली स्थान पूरा भर जाने से) पुरुष आकार रूप रहता है।

प्रश्न : 11. आचार्य, उपाध्याय, साधु का सामान्य स्वरूप कहकर टोडरमलजी क्या बताना चाहते हैं ?

उत्तर : आचार्य, उपाध्याय और साधु तीनों साधु पद की वृत्ति को समानरूप से धारण करते हैं - यही बताया है।

प्रश्न : 12. आचार्य, उपाध्याय, साधु के सामान्य स्वरूप में टोडरमलजी शुद्धोपयोग रूप मुनिधर्म ऐसा विशेषण देकर क्या बतलाना चाहते हैं?

उत्तर : स्वरूपलीनतारूप विशेषता का महत्व रेखांकित करने के लिये ही टोडरमलजी ने मुनिधर्म को शुद्धोपयोगरूप कहा है।

प्रश्न : 13. आचार्य व उपाध्याय परमेष्ठी का मुख्य और गौण कार्य क्या है?

उत्तर : निर्विकल्प स्वरूपाचरण में मग्न रहना तीनों परमेष्ठियों का मुख्य कार्य है। धर्मोपदेश देना, दीक्षार्थियों को दीक्षा देना, शिष्यों को प्रायश्चित्त देना इत्यादि आचार्य परमेष्ठी के गौण कार्य हैं और संघ में पठन-पाठन कराना उपाध्याय परमेष्ठी का गौण कार्य है।

प्रश्न : 14. अरहंतादि के प्रति पूज्यत्व का कारण क्या है ?

उत्तर : कोई भी जीव ज्ञान की विशेषता और रागादि की हीनता से स्तुतियोग्य होता है। अरहंतादि में यह वीतराग विज्ञानता संपूर्णतया और आचार्य, उपाध्याय, साधु में यह एकदेश होती है; जिस ही के कारण वे पूज्य और स्तुतियोग्य महान हैं।

प्रश्न : 15. अरहंतादिक की स्तुति से वीतराग विशेष ज्ञानरूप प्रयोजन की सिद्धि किसी प्रकार होती है?

उत्तर : अरहंतादिक के प्रति होने वाले भक्ति के परिणाम मंद कषाय रूप विशुद्ध परिणाम हैं, जो शुद्ध परिणाम का कारण है। सो अरहंतादि के प्रति भक्ति के परिणामों से घातिकर्म की हीनता होने से सहज ही इस प्रयोजन की सिद्धि होती है अथवा ये परिणाम तत्काल ही राग को हीन और जीव-अजीव के विशेष ज्ञान को प्रगट करते हैं; अतः

ऐसे भी इस वीतराग-विशेषज्ञानरूप प्रयोजन की सिद्धि होती है।

प्रश्न : 16. क्या अरहंतादिक की भक्ति के परिणामों से इन्द्रिय सुख (पंचेन्द्रिय के भोगों) की प्राप्ति रूप प्रयोजन की सिद्धि भी होती है ?

उत्तर : नहीं, क्योंकि लौकिक वांछा सहित भगवान की भक्ति का परिणाम तीव्र कषाय का परिणाम है, जो कषाय सहित होने से मिथ्यात्व और पापबंध में ही कारण है; परन्तु जिसके हृदय में अरहंतादि की भक्ति होती है, उसे मंदकषायरूप विशुद्ध परिणामों के निमित्त से पुण्यबंध होता है और उसके उदय में लौकिक अनुकूलता की प्राप्ति भी सहज ही होती है। परन्तु जिनेन्द्र भगवान का भक्त इस प्रयोजन का अर्थी नहीं होता।

प्रश्न : 17. मंगलाचरण कब/क्यों/किस रूप किया जाता है ?

उत्तर : ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिये ग्रन्थ के आदि/मध्य/अंत में इष्टदेव के नमस्काररूप मंगल किया जाता है।

प्रश्न : 18. अरहंतादिक में मंगलपना किस प्रकार संभव है?

उत्तर : अरहंतादिक ही परम मंगल हैं। उनमें भक्तिभाव होने से परम मंगल होता है। 'मंग' अर्थात् सुख, उसे 'लाति' अर्थात् देता है अथवा 'मं' अर्थात् पाप, उसे 'गालयति' अर्थात् गलावे, दूर करे उसका नाम मंगल है। वीतराग विशेष ज्ञान की प्राप्ति में निमित्त होने से भी अरहंतादिक के परम मंगलपना संभव है।

प्रश्न : 19. किस प्रकार के शास्त्र वांचने सुनने योग्य हैं ?

उत्तर : जिन शास्त्रों में जिस-तिस प्रकार राग-द्वेष-मोह का निषेध करके वीतराग भावरूप मोक्षमार्ग का प्रयोजन प्रगट किया गया हो, साक्षात् या परम्परा से वीतराग भाव का पोषण किया गया हो; उन्हीं शास्त्रों का वांचना-सुनना उचित है।

प्रश्न : 20. वक्ता के प्रमुख लक्षण बताइये ?

उत्तर : वक्ता के सामान्य लक्षण - (1) जैन धर्म में दृढ श्रद्धानी हो (2) विद्याभ्यास द्वारा शास्त्र वांचने योग्य बुद्धि हो (3) सम्यग्ज्ञान द्वारा सर्वप्रकार के व्यवहार निश्चयरूप व्याख्यान का अभिप्राय पहचानता हो (4) जिन आज्ञा भंग करने का भय बहुत हो (5) शास्त्र वांचकर लौकिक आजीविका आदि लौकिक कार्य साधने की इच्छा न हो (6) तीव्र कषायी न हो (7) लोकनिंद्य कार्यों की प्रवृत्ति न हो (8) कुल-अंग हीन न हो, स्वरभंग न हो (9) लोकमान्य हो।

वक्ता के विशेष लक्षण - इसके अतिरिक्त (1) जो वक्ता व्याकरण-न्याय-सिद्धांत ग्रन्थों का ज्ञाता हो (2) अध्यात्मरस द्वारा यथार्थ अपने स्वरूप को समझता हो (3) बुद्धि ऋद्धि अथवा अवधि-मनःपर्यय-केवलज्ञान का धारक हो।

प्रश्न : 21. नवीन श्रोता का स्वरूप बताइये ?

उत्तर : भली होनहार होने से जो जीव (1) मैं कौन हूँ ? (2) मेरा स्वरूप क्या है ? (3) यह चारित्र कैसे बन रहा है ? (4) ये मेरे भाव होते हैं उनका क्या फल लगेगा ? (5) दुःख दूर करने का क्या उपाय है ? - इतनी बातों का निर्णयकर मेरा हित हो सो करना है; ऐसे विचार से तत्त्वनिर्णय के लिये उद्यमवंत हुआ है; इस कार्य की सिद्धि शास्त्र सुनने से होती है - ऐसा जानकर अतिप्रीतिपूर्वक शास्त्र सुनता है, पूछना हो सो पूछता है, गुरुओं द्वारा कहे अर्थ को बारंबार विचारता है और विचार से सत्य अर्थों का निश्चयकर जो कर्तव्य हो उसका उद्यमी होता है - यह नवीन श्रोता का स्वरूप है।

प्रश्न : 22. विशेष श्रोता का स्वरूप बताइये ?

उत्तर : जो जैनधर्म के गाढ़ श्रद्धानी हैं तथा नाना शास्त्र सुनने से

जिनकी बुद्धि निर्मल हुई है तथा व्यवहार-निश्चयादि का स्वरूप भलीभाँति जानकर जिस अर्थ को सुनते हैं, उसे यथावत् निश्चय जानकर अवधारण करते हैं; तथा जब प्रश्न उठता है तब अति विनयवान होकर प्रश्न करते हैं अथवा परस्पर अनेक प्रश्नोत्तर कर वस्तु का निर्णय करते हैं; शास्त्राभ्यास में अति आसक्त हैं; धर्मबुद्धि से निंद्य कार्यों के त्यागी हुए हैं - ऐसे उन शास्त्रों के विशेष श्रोता हैं।

प्रश्न : 23. श्रोता के विशेष गुण बताइये ?

उत्तर : जिसे व्याकरण न्यायादि का तथा बड़े जैन शास्त्रों का ज्ञान हो; जो अतिशय बुद्धि से या अवधि मनःपर्यय ज्ञान से संयुक्त हो यह श्रोताओं के विशेष गुण हैं।

प्रश्न : 24. पापी श्रोता का लक्षण बताइये ?

उत्तर : जो मद-मत्सर भाव से शास्त्र सुनते हैं अथवा तर्क करने का ही जिनका अभिप्राय है, तथा जो महंतता के हेतु अथवा किसी लोभादिक प्रयोजन के हेतु से शास्त्र सुनते हैं तथा जो शास्त्र तो सुनते हैं परन्तु सुहाता नहीं है - ऐसे पापी श्रोताओं के लक्षण हैं।

द्वितीय अधिकार

प्रश्न : 1. द्वितीय अधिकार की विषय-वस्तु बताइये ?

उत्तर : मोक्षमार्गप्रकाशक के द्वितीय अध्याय में जीव की संसार अवस्था का स्वरूप बताते हुये यह सिद्ध किया गया है कि इस जीव को अनादि काल से कर्मों का बंधन है। कर्म के बंधन का कारण क्या है ? कर्मोदय के निमित्त से जीव की क्या-क्या अवस्थाएं होती है ? इत्यादि का वर्णन किया गया।

प्रश्न : 2. कर्मबंध का निदान (निर्णय) क्यों जरूरी है ?

उत्तर : जिसप्रकार रोगी को स्वस्थ होने के लिये सर्वप्रथम रोग का निदान (निर्णय) होना जरूरी है, उसी प्रकार जीव को कर्मबंध से मुक्त होने के लिये कर्म बंध का निर्णय होना जरूरी है।

प्रश्न : 3. कर्मबंध का निदान कैसे हो ?

उत्तर : जिसप्रकार वैद्य रोगी के लक्षण, उसके शरीर की अवस्था देखकर रोग की पहचान करता है, उसी प्रकार जिनवाणी भी कर्मोदय के निमित्त से होने वाली नाना अवस्थाओं को बताकर जीव संसार में कर्मबंध सहित है, इसका निर्णय कराती है।

प्रश्न : 4. कर्मबंध से छूटने का उपाय क्या है ?

उत्तर : जिसप्रकार स्वस्थ होने के लिये सर्वप्रथम मुझे रोग है और मुझे यह रोग है, इस रोग से छूटा जा सकता है और अमुक औषधि से छूटा जा सकता है - इतनी बातों का निर्णय कर उस अनुरूप प्रवृत्ति करें तो रोग मुक्त होता है, उसी प्रकार जीव कर्मबंध से छूटने के लिये सर्वप्रथम (1) मुझे कर्मबंध है, (2) ये मेरा स्वभाव नहीं है, (3) इससे मुक्त हुआ जा सकता है, (4) इससे मुक्ति का उपाय यह है - इतनी

बातों का शास्त्र द्वारा निर्णयकर उस उपाय का साधन करे तो कर्मबंध से मुक्त हो सकता है।

प्रश्न : 5. मंगलाचरण में 'मिथ्याभाव अभावतै' में मिथ्याभाव का क्या अर्थ है ?

उत्तर : मिथ्याभाव का अर्थ रत्नत्रय के विरुद्ध मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्या चारित्र रूप परिणाम से है।

प्रश्न : 6. जीव संसार में कर्मबंध सहित है - इसका निर्णय कैसे हो ?

उत्तर : स्वभावरूप परिणाम सदा काल एक सरीखा होता है; परन्तु जीव संसार में अनेक औदयिक भावों रूप परिणमता है, एकरूप नहीं रहता। इससे यह निर्णय होता है कि जीव के नानाभाव रूप परिणमन का कारण कर्मोदय है।

प्रश्न : 7. जीव को यह कर्मबंध कब से है ?

उत्तर : जीव को यह कर्मबंध अनादि से है।

प्रश्न : 8. जब जीव के रागादिक परिणाम का निमित्त पाकर कर्मबंध होता है तो कर्मबंध अनादि से कैसे हुआ ?

उत्तर : कर्मोदय के बिना ही पहले जीव के रागादिक माने तो रागादिक जीव का स्वभाव हो जावे; क्योंकि जो परनिमित्त के बिना हो, उसे स्वभाव कहते हैं और स्वभाव कभी छूटता नहीं; परन्तु जीव रागादिक से मुक्त सिद्ध होता है, अतः सिद्ध है कि रागादिक कर्मोदय के निमित्त से ही होता है और यदि रागादि के बिना ही पहले कर्मोदय को मानें तो सदाकाल सभी को कर्मबंधन का प्रसंग आयेगा जो बनता नहीं।

अब कर्मोदय से राग और राग से कर्मबंध ऐसा संबंध नवीन कर्मबंध में तो संभव है; परन्तु अनादि अवस्था में निमित्त का कुछ प्रयोजन नहीं अर्थात् उसमें उसका कथन संभव नहीं है। अतः द्रव्यकर्म का संबंध जीव को अनादिकाल से है।

प्रश्न : 9. संबंध या संयोग कहना तो तब संभव है जब पहले भिन्न-भिन्न हो और फिर मिले; अनदि से मिले जीव और कर्मों में संयोग संबंध कैसे रहा ?

उत्तर : चूंकि जीव और कर्म बाद में अलग-अलग हो जाते हैं, अतः हम अनुमान से कह सकते हैं कि वे पहले भी अलग-अलग थे। केवलज्ञान में भी जीव और कर्म को न्यारा-न्यारा प्रत्यक्ष जाना है। दो अलग-अलग वस्तुओं के मेल को संयोग संबंध कहते हैं, अतः जीव और कर्म का संयोग संबंध है।

प्रश्न : 10. जीव और कर्म भिन्न-भिन्न कैसे कहते हो ?

उत्तर : दोनों के लक्षण अलग-अलग होने से जीव और कर्मों को भिन्न-भिन्न कहते हैं। जीव का लक्षण ज्ञान-दर्शन-उपयोगरूप है और कर्म का लक्षण चेतना रहित मूर्तिक है।

प्रश्न : 11. अमूर्तिक आत्मा और मूर्तिक कर्म ऐसे दो भिन्न-भिन्न द्रव्यों में बंध कैसे संभव है ?

उत्तर : अमूर्तिक आत्मा को भी कथंचित् मूर्तिक कहा गया है। अतः बंध संभव है और आत्मा व कर्म के बंध में कोई किसी को करता तो है नहीं। जब तक बंधान रहे तब तक साथ रहे, बिछुड़े नहीं और कार्य-कारणपना (निमित्त-नैमित्तिकपना) बना रहता है। इतना ही बंधान है। सो अमूर्तिक (कथंचित् मूर्तिक) आत्मा और मूर्तिक कर्म के इसप्रकार बंधान में कुछ विरोध नहीं है।

प्रश्न : 12. कर्मों के भेद एवं उनके कार्यों का सामान्य वर्णन कीजिये ?

उत्तर : कर्म घाति और अघाति के भेद से 2 प्रकार के हैं। घातिया कर्म जीव के स्वभाव के घात में निमित्त होते हैं। ये ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय के भेद से 4 प्रकार के हैं।

अघातिया कर्म के निमित्त से आत्मा को सुख-दुःख की कारणभूत बाह्य सामग्री का संबंध बनता है। वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र - ये 4 अघातिया कर्मों के भेद हैं।

प्रश्न : 13. घातिकर्म के निमित्त से क्या होता है ?

उत्तर : ज्ञानावरण और दर्शनावरण से तो जीव के ज्ञान-दर्शन की व्यक्तता नहीं होती। उन कर्मों के क्षयोपशम के अनुसार किंचित् ज्ञान-दर्शन की व्यक्तता होती है। मोहनीय से जो जीव के स्वभाव नहीं है, ऐसे मिथ्या श्रद्धान व क्रोध-मान-माया-लोभादि कषाय की व्यक्तता रहती है। अन्तराय से जीव के स्वभाव, दीक्षा लेने की सामर्थ्यरूप वीर्य की व्यक्तता नहीं होती। उसके क्षयोपशम के अनुसार किंचित् शक्ति होती है।

प्रश्न : 14. घात नाम तो अभाव का है; सो जिसका पहले सद्भाव हो उसका अभाव कहना बनता है। यहाँ स्वभाव का तो सद्भाव है ही नहीं, घात किसका किया ?

उत्तर : जीव में अनादि ही से ऐसी शक्ति पायी जाती है कि कर्म का निमित्त न हो तो केवलज्ञानादि अपने स्वभावरूप प्रवर्ते; परन्तु अनादि ही से कर्म का संबंध पाया जाता है, इसलिये उस शक्ति की व्यक्तता नहीं हुई। अतः शक्ति-अपेक्षा स्वभाव है, उसको व्यक्त न होने देने की अपेक्षा घात किया कहते हैं।

प्रश्न : 15. अघाति कर्म के निमित्त से क्या होता है ?

उत्तर : अघाति कर्म के निमित्त से इस आत्मा को सुख-दुःख की कारणभूत बाह्य सामग्री का संबंध बनता है। वहाँ वेदनीय से तो शरीर में अथवा शरीर से बाह्य नाना प्रकार सुख दुख के कारण परद्रव्यों का संयोग होता है। आयु से अपनी अपनी स्थित पर्यन्त प्राप्त शरीर का

संबंध नहीं छूट सकता। नाम से गति, जाति शरीरादिक उत्पन्न होते हैं और गोत्र से उच्च-नीच कुल की प्राप्ति होती है।

प्रश्न : 16. जब कर्म परद्रव्य हैं, जड़ हैं तो फिर उनसे जीव के स्वभाव का घात होना या उनसे बाह्य सामग्री का मिलना कैसे संभव है ?

उत्तर : कर्म स्वयं कर्ता होकर प्रयत्नपूर्वक जीव के स्वभाव का घात नहीं करते या स्वयं बाह्य संयोग सामग्री को एकत्र नहीं करते हैं। कर्म के उदयकाल में आत्मा स्वयं उस रूप परिणमित होता है तथा परद्रव्य भी वैसे ही संबंधरूप होकर परिणमित होते हैं। अतः कर्म और आत्मा का परस्पर ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध है, जिसप्रकार सूर्योदय होने पर कमल खिलता है।

प्रश्न : 17. नवीन कर्म के बंध में किस कर्म के उदय से होने वाले परिणाम निमित्त है ?

उत्तर : अघातिया कर्मों के उदय से बाह्य सामग्री मिलती है, यह सामग्री परद्रव्य है और परद्रव्य से बंध नहीं होता। इसलिये अघाति कर्म का उदय नवीन बंध का कारण नहीं है।

घातिकर्म में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म के क्षयोपशम के निमित्त से जीव के स्वभाव का कुछ अंश व्यक्त होता है और कुछ अव्यक्त। जो स्वभाव व्यक्त नहीं है, वह उस काल में अभाव रूप है और अभावरूप वस्तु नवीनकर्म बंध में निमित्त नहीं होती; तथा जो व्यक्त है वह स्वभाव का अंश है और स्वभाव बंध का कारण नहीं होता; इसलिये ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय कर्म का क्षयोपशम भी नवीन बंध का कारण नहीं है।

मोहनीय कर्म के उदय में जीव को अयथार्थ श्रद्धानरूप मिथ्यात्वभाव और क्रोधादिक कषाय होती है। यद्यपि ये जीव के परिणाम हैं; पर

कर्मोदय के निमित्त होने से औपाधिक भाव हैं, स्वभाव नहीं; इसलिये मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाले जीव के मिथ्यात्व और कषायरूप परिणाम ही नवीन बंध के कारण हैं।

प्रश्न : 18. बंध कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : बंध चार प्रकार का होता है -

- (1) प्रकृति बंध - कर्मों का ज्ञानावरण-दर्शनावरण आदि मूल-उत्तर प्रकृतिरूप परिणामन का निर्धारण।
- (2) प्रदेश बंध - कर्म वर्गणाओं की संख्या (प्रदेश) का निर्धारण।
- (3) स्थिति बंध - कर्म का आत्मा के साथ एकक्षेत्र अवगाह रूप रहने की काल मर्यादा (स्थिति) का निर्धारण।
- (4) अनुभाग बंध - उदय में आने पर कर्म की फलदानरूप शक्ति (अनुभाग) का निर्धारण।

प्रश्न : 19. योग किसे कहते हैं ?

उत्तर : नामकर्म के उदय से प्राप्त मन-वचन-काय की चेष्टा के निमित्त से आत्मप्रदेशों में जो चंचलपना होता है, उससे आत्मा में पुद्गल कार्मण वर्गणा के साथ एकबंधान होने की शक्ति प्राप्त होती है, इसे योग कहते हैं।

यह योग शुभ और अशुभ के भेद से 2 प्रकार का होता है। धर्म के अंगों में प्रवृत्ति शुभयोग और अधर्म के अंगों में प्रवृत्ति अशुभ योग कहलाती है।

प्रश्न : 20. प्रदेश और प्रकृति बंध किस निमित्त से होते हैं ?

उत्तर : प्रदेश और प्रकृति बंध में योग निमित्त होता है। अल्प योग होने पर अल्प कार्मणवर्गणा और बहुत योग होने पर बहुत कार्मणवर्गणा का ग्रहण होता है; यह प्रदेश बंध है। एक समय में ग्रहण किये गये पुद्गल

परमाणुओं का ज्ञानावरणादि मूल और उसकी उत्तर प्रकृतियों में विभक्त हो जाना प्रकृति बंध है।

प्रश्न : 21. प्रकृति व प्रदेश बंध में शुभ/अशुभ योग से कोई भेद पड़ता है या नहीं ?

उत्तर : शुभ योग हो या अशुभ योग, सम्यक्त्व के बिना घातिकर्मों की सब प्रकृतियों में निरंतर बंध होता रहता है तथा अघातिया कर्मों की प्रकृतियों में शुभ योग होने पर साता वेदनीय आदि पुण्य प्रकृतियों का, अशुभ योग होने पर असाता वेदनीय आदि पाप प्रकृतियों का और मिश्रयोग होने पर कितनी ही पुण्य व कितनी ही पाप प्रकृतियों का बंध होता रहता है।

इसप्रकार योग के निमित्त से कर्मों का आगमन होता है, इसलिये योग आस्रव है। उसके द्वारा ग्रहण किये परमाणुओं का नाम प्रदेश है, उसका बंध हुआ और उनमें मूल व उत्तर प्रकृतियों का विभाग हुआ; इसलिये योगों द्वारा प्रदेश बंध तथा प्रकृति बंध का होना जानना।

प्रश्न : 22. कषाय किसे कहते हैं ?

उत्तर : मोह के उदय से होने वाले मिथ्यात्व, क्रोधादिक भाव का नाम सामान्यतः कषाय है।

प्रश्न : 23. स्थिति और अनुभाग बंध किस निमित्त से होता है ?

उत्तर : स्थिति और अनुभाग बंध कषाय के निमित्त से होता है।

मनुष्य, देव, तिर्यच आयु को छोड़कर सर्व घाति-अघाति प्रकृतियों का अल्प कषाय होने पर अल्प और बहुत कषाय होने पर बहुत स्थिति बंध होता है। मनुष्य, देव, तिर्यच आयु में इससे विपरीत अर्थात् अल्प कषाय होने पर अधिक और अधिक कषाय होने पर कम स्थिति का बंध होता है।

कषाय द्वारा ही उन कर्म प्रकृतियों में अनुभाग शक्ति होती है। वहाँ जैसा अनुभाग बंधा हो उदयकाल में उन प्रकृतियों का वैसा ही, थोड़ा या बहुत फल उत्पन्न होता है।

घातिकर्मों की सर्वप्रकृतियों तथा अघातिकर्मों की पाप प्रकृतियों में तो अल्प कषाय होने पर अल्प अनुभाग बंधता है और बहुत कषाय होने पर बहुत अनुभाग बंधता है। तथा पुण्य प्रकृतियों में इसके विपरीत अल्प कषाय से बहुत अनुभाग तथा बहुत कषाय से अल्प अनुभाग बंधता है।

प्रश्न : 24. प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग बंध में विशेष कौन है ?

उत्तर : जिसप्रकार थोड़ी मदिरा हो; परन्तु उसमें बहुत कालपर्यन्त बहुत उन्मत्तता उत्पन्न करने की शक्ति हो तो वह मदिरा अधिकपने को प्राप्त हाती है और अधिक मदिरा हो परन्तु उसमें अल्प काल पर्यन्त अल्प उन्मत्तता उत्पन्न करने की शक्ति हो तो वह मदिरा हीनपने को प्राप्त होती है। उसी प्रकार बहुत कर्मपरमाणु थोड़े काल पर्यन्त थोड़ा फल देने की शक्ति सहित हो तो वे हीनपने को प्राप्त होते हैं और अल्प परमाणु हो परन्तु उनमें अधिक काल पर्यन्त बहुत फल देने की सामर्थ्य हो तो वे अधिकपने को प्राप्त है।

इसलिये योग द्वारा हुये प्रकृति, प्रदेश बंध बलवान नहीं है, अपितु कषायों द्वारा किया गया स्थिति, अनुभाग बंध ही बलवान है। इसलिये मुख्य रूप से कषाय को ही बंध का कारण जानना; अतः जिन्हें बंध नहीं करना हो, वे कषाय नहीं करें।

प्रश्न : 25. पुद्गल परमाणु तो जड़ हैं, उन्हें कुछ ज्ञान नहीं है। वे यथायोग्य कर्मप्रकृतिरूप किसप्रकार परिणमित होते हैं ?

उत्तर : जिसप्रकार मुख द्वारा ग्रहण किया गया भोजन अपनी योग्यता से यथायोग्य मांस, शुक्र, खून, हड्डी, मज्जा आदि रूप परिणमित होता है, उसीप्रकार कषाय होने पर योगद्वारा द्वारा ग्रहण किये हुये कर्म परमाणु प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग रूप परिणमते हैं। कर्मों का व आत्मपरिणामों का ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक संबंध है।

प्रश्न : 26. सत्ता में पड़े हुये कर्मों की कैसी अवस्था होती है ?

उत्तर : एकक्षेत्रावगाह रूप में बंधे हुये कर्म जबतक उदय में न आये तब तक मिट्टी के ढेले के समान बिना किसी कार्य के रहते हैं। वहाँ जीव के भाव के निमित्त से कई कर्म प्रकृतियों की अवस्था पलट जाती है। अन्य प्रकृति के परमाणु अन्य प्रकृति रूप संक्रमित हो जाते हैं। उनकी स्थिति-अनुभाग में उत्कर्षण (वृद्धि), अपकर्षण (हास/कमी) हो जाता है।

इसप्रकार पूर्व में बंधे हुये परमाणुओं की जीव के परिणामों का निमित्त पाकर अवस्था पलटती है और निमित्त न बने तो नहीं पलटती, ज्यों की त्यों बनी रहती है।

प्रश्न : 27. कर्म की उदयरूप अवस्था कैसी होती है ?

उत्तर : कर्मप्रकृतियों का उदयकाल आने पर उनके अनुभाग के अनुसार कार्य बनता है, कर्म उन कार्यों को उत्पन्न नहीं करते। उनका उदयकाल आने पर स्वयमेव वह कार्य बनता है, इतना ही निमित्त नैमित्तिक संबंध जानना। जिस समय फल उत्पन्न हुआ उसके अनन्तर समय में उन कर्मरूप पुद्गलों को अनुभाग शक्ति का अभाव होने से कर्मत्वपने का अभाव होता है, वे पुद्गल परमाणु अन्य पर्यायरूप परिणमित हो जाते हैं। इसका नाम सविपाक निर्जरा है। इसप्रकार प्रतिसमय उदय होकर कर्म खिरते हैं।

प्रश्न : 28. द्रव्यकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : यह कर्म परमाणु रूप अनंत पुद्गल द्रव्यों से उत्पन्न किया हुआ कार्य है। इसलिये उसका नाम द्रव्यकर्म है।

प्रश्न : 29. भावकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : मोह के निमित्त से मिथ्यात्व क्रोधादि रूप जीव के परिणाम हैं, वह अशुद्ध भाव से उत्पन्न किया हुआ कार्य है, इसलिए इसका नाम भावकर्म है।

प्रश्न : 30. नोकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : नो अर्थात् ईषत् (अल्प)। नामकर्म के उदय से शरीरादि संयोग द्रव्यकर्मवत् सुख-दुख का किंचित् कारण होते हैं, शरीरादि संयोग जो जीव के सुख-दुःख में निमित्त बनते हैं, उन्हें नोकर्म कहते हैं।

प्रश्न : 31. इतर निगोद किसे कहते हैं ?

उत्तर : नित्य निगोद से निकलकर जीव अन्यपर्याय धारणकर पुनः निगोद में जन्म ले उसे इतर निगोद कहते हैं।

प्रश्न : 32. नित्य निगोद किसे कहते हैं ?

उत्तर : जहाँ जीव अनादि काल से निगोद शरीर धारणकर जन्म मरण कर रहा है, आज तक अन्य पर्यायों को प्राप्त ही नहीं किया, उसे नित्य निगोद कहते हैं।

प्रश्न : 33. ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्म के उदय में जीव की कैसी अवस्था होती है ?

उत्तर : ज्ञान का स्वभाव तो त्रिकालवर्ती सब पदार्थों को उनके सर्व द्रव्य-गुण-पर्याय सहित युगपत् प्रत्यक्ष बिना किसी की सहायता के जानने का है, परन्तु अनादि से ज्ञानावरण-दर्शनावरण का संबंध होने से इस शक्ति का व्यक्तपना नहीं होता और उन कर्मों के क्षयोपशम से किंचित् मति-श्रुतज्ञान कदाचित् अवधिज्ञान पाया जाता है तथा

अचक्षुदर्शन चक्षुदर्शन, और कदाचित् अवधिदर्शन भी पाया जाता है।

प्रश्न : 34. मतिज्ञान की प्रवृत्ति का वर्णन कीजिये।

उत्तर : मतिज्ञान पंचेन्द्रिय और मन की पराधीनतापूर्वक क्षयोपशम के अनुसार थोड़ा-बहुत जानता है।

प्रश्न : 35. श्रुतज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर : मतिज्ञान द्वारा जाने हुये पदार्थ के संबंध से अन्य पदार्थ को जानने वाला श्रुतज्ञान है। यह मुख्यरूप से अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक रूप दो प्रकार का है।

प्रश्न : 36. अक्षरात्मक श्रुतज्ञान को समझाइये।

उत्तर : 'घट' शब्द सुनना/देखना वह मतिज्ञान हुआ और उसके संबंध से आकार विशेष रूप वस्तु का ज्ञान अक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहलायेगा।

प्रश्न : 37. अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान को समझाइये।

उत्तर : स्पर्श द्वारा शीत का जानना मतिज्ञान हुआ और यह हितकारी/अहितकारी है, इसलिये उसका उपाय करना इस रूप ज्ञान अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान हुआ।

इसप्रकार श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होने से मतिज्ञान की भांति पराधीन है।

प्रश्न : 38. अवधिज्ञान का स्वरूप बताइये।

उत्तर : अपनी मर्यादा के अनुसार क्षेत्र-काल का प्रमाण लेकर रूपी पदार्थों का स्पष्ट जानना अवधिज्ञान है। देव/नारकी को तो यह जन्म से ही होता है तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यच या मनुष्य में भी किसी किसी को क्षयोपशम के निमित्त से पाया जाता है।

प्रश्न : 39. दर्शनोपयोग किसे कहते हैं ?

उत्तर : इन्द्रिय तथा मन को स्पर्शादि विषयों का संबंध होने के प्रथम काल में मतिज्ञान से पूर्व जो सामान्य अवलोकन रूप प्रतिभास होता है, उसे दर्शनोपयोग कहते हैं। चक्षु इन्द्रिय द्वारा होने वाला दर्शनोपयोग चक्षुदर्शन तथा शेष चार इन्द्रिय और मन द्वारा होने वाला दर्शनोपयोग अचक्षुदर्शन कहलाता है और अवधिज्ञान के पूर्व होने वाला सामान्य प्रतिभास अवधिदर्शन कहलाता है। चूंकि यह मति/अवधिज्ञान के पूर्व होता है, अतः मतिज्ञान/अवधिज्ञान जैसा ही पराधीन है।

प्रश्न : 40. दर्शन मोहनीय कर्म के उदय में जीव की अवस्था का वर्णन कीजिये।

उत्तर : दर्शन मोह के उदय से जीव को मिथ्यात्व भाव होता है, उससे यह जीव अन्यथा प्रतीतिरूप अतत्त्वश्रद्धान करता है। जैसी वस्तु है वैसी न मानकर अन्यथा मानता है।

प्रश्न : 41. चारित्र मोह के उदयरूप जीव की अवस्था का वर्णन कीजिये।

उत्तर : चारित्र मोह के उदय से इस जीव को कषायभाव होता है, तब यह देखते-जानते हुये भी परपदार्थों में इष्ट-अनिष्टपना मानता है। क्रोध का उदय होने पर पदार्थों में अनिष्टपना मानकर उनका बुरा चाहता है। मान का उदय होने पर पदार्थों में अनिष्टपना मानकर उसे नीचा करना चाहता है। माया का उदय होने पर पदार्थों में इष्टपना मानकर छल करता है। लोभ का उदय होने पर पदार्थों में इष्टपना मानकर प्राप्त करना चाहता है।

प्रश्न : 42. अन्तराय कर्मों के उदय-क्षयोपशम रूप जीव की अवस्था का वर्णन कीजिये।

उत्तर : अन्तराय के उदय में जीव की शक्ति का घात होता है। जो चाहे सो नहीं होता तथा इसके क्षयोपशम से किंचित् चाहा हुआ भी होता है।

प्रश्न : 43. वेदनीय कर्म के उदय में जीव की अवस्था का वर्णन कीजिये।

उत्तर : अघातिया कर्मों में वेदनीय कर्म के उदय से शरीर में बाह्य सुख-दुःख के कारण उत्पन्न होते हैं। साता वेदनीय के उदय के निमित्त से सुख के और असातावेदनीय के निमित्त से दुःख के कारण मिलते हैं। यहाँ विशेष यह है कि वे कारण स्वयं ही सुख दुःख को उत्पन्न नहीं करते, अपितु मोह का उदय होने पर यह जीव स्वयं उनसे अपने को सुखी-दुःखी मानता है। इसलिये सुख-दुःख का मूल बलवान कारण तो मोह का उदय ही है।

प्रश्न : 44. आयु कर्मोदयजन्य जीव की अवस्था का वर्णन कीजिये।

उत्तर : आयुर्कर्म के उदय में मनुष्यादि पर्यायों की स्थिति रहती है। जब तक आयु का उदय रहता है, तब तक अनेक कारण मिलने पर भी शरीर का संबंध नहीं छूटता और आयु का उदय समाप्त होते ही अनेक उपाय करने पर भी शरीर का संबंध नहीं रहता।

प्रश्न : 45. नामकर्म के उदयजन्य जीव की अवस्था का वर्णन कीजिये।

उत्तर : नामकर्म से यह जीव मनुष्यादि गतियों को प्राप्त करता है और उसके योग्य अनेक प्रकार की रचना स्वयमेव होती है।

प्रश्न : 46. गोत्र कर्मोदयजन्य जीव की अवस्था का वर्णन कीजिये।

उत्तर : गोत्र कर्म के उदय में यह जीव उच्च नीच कुल में उत्पन्न होता है। ●

तृतीय अधिकार

प्रश्न : 1. तीसरे अध्याय में किस बात का निरूपण किया गया है?

उत्तर : तीसरे अध्याय में संसार के दुःखों, उसके कारण एवं मोक्ष सुख का निरूपण किया गया है।

प्रश्न : 2. संसार दुःख और मोक्ष सुख के निरूपण की क्या आवश्यकता है?

उत्तर : जिस प्रकार वैद्य रोगी को उसके दुःखों का स्वरूप और कारण बताकर दुःख दूर करने के सच्चे उपाय की प्रतीति कराता है, उसी प्रकार संसारी जीव को संसार दुःखों और उसके मूलकारणों की पहचान कराकर उसे दूर करने के सच्चे उपाय की प्रतीति कराये तो वह मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होता है। इसलिये संसार दुःख, उसके कारण और मोक्ष सुख का निरूपण यहाँ किया जा रहा है।

प्रश्न : 3. संसार दुःख का मूलकारण किसे कहा ?

उत्तर : संसार दुःख का मूल कारण मिथ्यादर्शन, अज्ञान और असंयम को कहा।

प्रश्न : 4. मिथ्यादर्शन, अज्ञान और असंयम की परिभाषा दीजिये।

उत्तर : मिथ्यादर्शन – दर्शनमोह के उदय से हुआ अतत्त्वश्रद्धान मिथ्यादर्शन है।

अज्ञान – क्षयोपशम ज्ञान मिथ्यादर्शन के निमित्त से यथार्थ वस्तुस्वरूप को नहीं जानता, अन्यथा ही जानता है, यही अज्ञान है।

असंयम – चारित्रमोह के उदय से हुआ कषायभाव असंयम है।

प्रश्न : 5. ज्ञानावरण और दर्शनावरण का क्षयोपशम दुःख का कारण क्यों है ?

उत्तर : इस जीव को त्रिकालवर्ती सर्वविषयों को ग्रहण करने की इच्छा है; परन्तु क्षयोपशम के कारण शक्ति तो किंचित् विषय को ग्रहण करने की है; अतः आकुलित होता है इसलिए मोह के निमित्त से ज्ञानावरण-दर्शनावरण का क्षयोपशम दुःख का कारण है।

प्रश्न : 6. ज्ञानावरण-दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले दुःख की निवृत्ति कैसे हो ?

उत्तर : विषयों को जानने की इच्छा मिट जावे अथवा संपूर्ण विषयों का युगपत् जानना होने लगे तब इस दुःख की निवृत्ति हो; सो ऐसा तो मोह का अभाव होने पर, इच्छा का अभाव होने पर होता है और केवलज्ञान होने पर सर्व पदार्थों का जानना होता है। मोह के नाश और केवलज्ञान की उत्पत्ति का उपाय सम्यग्दर्शन है, अतः इस दुःख की निवृत्ति का सच्चा उपाय सम्यग्दर्शनादि ही है।

प्रश्न : 7. दर्शन मोह के उदय से यह जीव किस प्रकार दुःखी होता है ?

उत्तर : दर्शनमोह के उदय से मिथ्यात्व भाव होता है। उसके द्वारा जैसा इसके श्रद्धान है वैसा तो पदार्थ होता नहीं है और जैसा पदार्थ है वैसा यह मानता नहीं है। इसलिये इसको आकुलता ही रहती है।

प्रश्न : 8. दर्शन मोह के उदयजन्य दुःख की निवृत्ति का क्या उपाय है ?

उत्तर : जो वस्तु जैसी है उसे यथार्थ मानना और यह परिणामित कराने से अन्यथा परिणामित नहीं होगी - ऐसा मानना ही उस दुःख के दूर होने का उपाय है। भ्रमजनित दुःख को दूर करने का उपाय भ्रम दूर करना ही है। अतः इस दुःख की निवृत्ति का सच्चा उपाय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य उत्पन्न करना ही है।

प्रश्न : 9. चारित्र्य मोह और अंतराय के उदय में यह जीव किसप्रकार दुःखी होता है ?

उत्तर : चारित्र्य मोह के उदय से क्रोधादि कषायरूप तथा हास्यादि नोकषायरूप जीव के भाव होते हैं और अंतराय के उदय से शक्ति का घातपना होता है, जिससे यह जीव क्लेशवान होकर दुःखी होता हुआ नानाप्रकार के कुकार्यों में प्रवर्तता है; परन्तु उस कषाय की निवृत्ति के लिये यह जो उपाय करता है, उनकी सिद्धि इसके आधीन नहीं है; अतः दुःखी होता है। कदाचित् काकतालीय न्याय से कार्य सिद्धि हो भी जाये तो तत्काल अन्य कषाय पैदा हो जाती है; अतः दुःखी ही रहता है।

प्रश्न : 10. चारित्र्यमोह के दुःख से निवृत्ति का सच्चा उपाय क्या है ?

उत्तर : जब सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य से वस्तुस्वरूप को यथावत् समझे तब इष्ट-अनिष्ट बुद्धि मिटे। ऐसा होने पर कषायों का अभाव हो, प्रयोजन कुछ रहे नहीं तब इच्छा का भी अभाव होने से तत्जन्य पीड़ा दूर हो। निराकुल होने से महासुखी हो; अतः रत्नत्रय की प्राप्ति ही दुःख मेटने का सच्चा उपाय है।

प्रश्न : 11. अन्तराय कर्म के उदय से होने वाले दुःख का वर्णन करो।

उत्तर : जीव के मोह द्वारा दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्यशक्ति का उत्साह उत्पन्न होता है; परन्तु अन्तराय के उदय से हो नहीं सकता, तब परम आकुलता होती है। सो यह दुःखरूप है ही।

प्रश्न : 12. अन्तराय कर्मोदयजन्य दुःख की निवृत्ति का उपाय क्या है ?

उत्तर : मिथ्यादर्शनादिक से इच्छा द्वारा जो उत्साह उत्पन्न होता था वह सम्यग्दर्शनादि से दूर होता है और सम्यग्दर्शनादि द्वारा ही अन्तराय का अनुभाग घटे तब इच्छा तो मिट जाये और शक्ति बढ़ जाये, तब वह

दुःख दूर होकर निराकुल सुख उत्पन्न होता है। इसलिये सम्यग्दर्शनादि ही सच्चा उपाय है।

प्रश्न : 13. वेदनीय कर्म का क्या कार्य है ?

उत्तर : वेदनीय कर्म के उदय से दुःख-सुख के कारणों का संयोग होता है। उसमें कई तो शरीर की अवस्था में निमित्तभूत होते हैं और कई बाह्य वस्तुओं के संयोग में निमित्तभूत होते हैं। वहाँ असाता के उदय से शरीर तथा उसकी अवस्थाओं को निमित्तभूत बाह्य प्रतिकूल अवस्था का संयोग होता है और साता वेदनीय के उदय से अनुकूल संयोग होता है।

प्रश्न : 14. वेदनीय कर्म के उदय में जीव दुःखी किस प्रकार होता है?

उत्तर : मोह के कारण यह जीव साता-असाता आदि वेदनीय कर्म के उदय से प्राप्त अनुकूल-प्रतिकूल सामग्री को बनाये रखना, दूर हटाना चाहता है; परन्तु इसकी इच्छा के अनुसार वस्तु परिणामित नहीं होती और यह जीव आकुलित होकर दुःखी होता रहता है।

प्रश्न : 15. वेदनीय कर्म के उदय से होने वाले दुःख की निवृत्ति का क्या उपाय है ?

उत्तर : सम्यग्दर्शन होने पर वस्तुस्वरूप की यथार्थ समझ आती है, तब परवस्तु सुख-दुःख का कारण भासित नहीं होती और मोह का अभाव होने पर अनेक कारण मिलने पर भी स्वयमेव सुख-दुःख का वेदन नहीं होता। इसप्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य की प्राप्ति से वेदनीय कर्मोदयजन्य दुःख की निवृत्ति होती है।

प्रश्न : 16. आयु कर्मोदयजन्य दुःख का वर्णन कीजिये।

उत्तर : आयु कर्म के उदय से पर्याय धारण करना जीवितव्य है और पर्याय का छूटना मरण है।

यह जीव मोह से प्राप्त पर्याय को ही आप रूप अनुभवता है; अतः पर्याय के नाश से अपना नाश होगा इसप्रकार मरण से डरता है; परन्तु आयुकर्म के पूर्ण हुये बिना अनेक कारण मिलने पर भी मरण नहीं होता और आयुकर्म की स्थिति पूर्ण होते ही एक समय भी पर्याय नहीं रहती, मरण होता ही है। अतः मरण से बचने के लिये यह जो उपाय करता है, वे झूठे ही हैं। यह वृथा ही आकुलित होता है।

प्रश्न : 17. आयुकर्म के उदयजन्य दुःख की निवृत्ति का सच्चा उपाय क्या है?

उत्तर : आयुकर्म के उदयजन्य दुःख से निवृत्ति का सच्चा उपाय तो यह है कि जब सम्यग्दर्शनादि से पर्याय में अहं बुद्धि छूट जाये, अपने त्रिकाल स्वभाव में अहं बुद्धि आये, पर्याय को स्वांग समान जाने तब मरण का भय नहीं रहता।

प्रश्न : 18. नामकर्म के उदय से होने वाले दुःख का वर्णन कीजिये।

उत्तर : नामकर्म के उदय से गति, जाति, शरीरादि उत्पन्न होते हैं। इसमें पुण्य के उदय में अनुकूल और सुख के कारण रूप तथा पाप के उदय में प्रतिकूल और दुःख के कारण रूप अनेक अवस्थाओं का संयोग होता है। इसमें यह जीव अनुकूल संयोगों को बनाये रखना और प्रतिकूल संयोगों को दूर हटाना चाहता है, जो इसके आधीन नहीं है, जिससे यह आकुलित होता है।

प्रश्न : 19. गोत्रकर्म के उदय से होने वाले दुःख और उसकी निवृत्ति का उपाय बताइये।

उत्तर : गोत्रकर्म के उदय से यह जीव उच्च-नीच कुल में उत्पन्न होता है। उच्च कुल में उत्पन्न होने से अपने को बड़ा और नीच कुल में उत्पन्न होने से अपने को नीचा मानता है। अतः उच्च कुल वाले को

नीचे कुल में जाने का भय निरंतर रहता है और नीच कुल वाला तो नीचपने के कारण सतत् दुःखी अनुभव करता रहता है। सम्यग्दर्शन होने पर कुलों का परिभ्रमण समाप्त होकर सबसे ऊँचे सिद्ध पद की प्राप्ति होती है।

प्रश्न : 20. संसारी जीव बहुत काल एकेन्द्रिय पर्यायों में रहता है, कथन को स्पष्ट करें।

उत्तर : अनादि से नित्य निगोद में रहते हुए जीव भाड़ में भुनते हुए चनों से उचटे हुए चने की भांति इतर निगोद, पृथ्वी, अप, तेज, वायु और प्रत्येक वनस्पति में बहुत काल रहता है। त्रस पर्याय का उत्कृष्ट काल तो साधिक 2 हजार सागर ही है और एकेन्द्रिय का उत्कृष्ट काल असंख्यात पुद्गल परावर्तन काल है। इसलिये संसार में जीव बहुत काल एकेन्द्रिय पर्यायों में ही रहता है।

प्रश्न : 21. एकेन्द्रिय पर्याय के दुःखों का संक्षिप्त विवरण दें।

उत्तर : जहाँ कषाय बहुत और शक्ति हीन हो वहाँ बहुत दुःख होता है। एकेन्द्रिय जीवों की शक्ति सर्वप्रकार अत्यंत मंद है और कषाय बहुत है; अतः एकेन्द्रिय पर्यायों में ऐसा महान दुःख है कि वे भोगते हैं और केवली जानते हैं।

प्रश्न : 22. विकलत्रय एवं असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के दुःखों का वर्णन कीजिए।

उत्तर : द्वि-इन्द्रियादिक जीवों के दुःख भी एकेन्द्रियवत् जानना। इसमें विशेष इतना है कि इन जीवों में शक्ति की कुछ अधिकता होती है; अतः कषायों के अनुसार कार्य करने में उनकी कुछ प्रवृत्ति प्रत्यक्ष दिखाई देती है; परन्तु ये भी तीव्रकषाय के कारण प्रत्यक्ष परम दुःखी दिखाई देते हैं।

प्रश्न : 23. नरक गति के दुःखों का वर्णन कीजिए।

उत्तर : नरक गति में जीवों को कषाय की तीव्रता व विषयों की इच्छा बहुत होती है; परन्तु वहाँ इष्ट विषयों की सामग्री का सर्वथा अभाव तथा अनिष्ट विषय की भरपूर सामग्री होने से नारकी जीव सर्वप्रकार से बहुत दुःखी है। क्रोधादि सर्व कषायों की अतितीव्रता होने से नारकी जीव सदैव अत्यंत दुःखी ही हैं।

प्रश्न : 24. तिर्यच गति के दुःखों का वर्णन कीजिए।

उत्तर : तिर्यच गति के जीवों में भी कषाय की तीव्रता होने से विषयों की इच्छा बहुत होती है; परन्तु उसकी पूर्ति के साधन दिखाई नहीं देते। वे वध-बन्धनादि दुःख से प्रत्यक्ष महादुःखी दिखाई देते हैं।

प्रश्न : 25. मनुष्य गति के दुःखों का वर्णन कीजिए।

उत्तर : मनुष्य गति में जीव पहले गर्भ में 9 माह रहकर असह्य दुःख का वेदन करता है। यौवनावस्था में विषयों की और कषायों की तीव्र लालसा से सतत् दुःखी रहता है और वृद्धावस्था में फिर शक्तिहीन होकर पराधीनता के कारण अकथनीय मानसिक/शारीरिक दुःखों को भोगता है।

प्रश्न : 26. देवगति के दुःखों का वर्णन कीजिए।

उत्तर : देवपर्याय में पुण्योदय से अपेक्षाकृत अनुकूलता दिखाई देने पर भी कषायों के कारण इर्ष्या और पराधीनताजन्य दुःख होने से देवों में भी मानसिक पीड़ा पायी जाती है। यहाँ इतना विशेष है कि ऊपर-ऊपर के देवों में कषाय शक्ति घटती जाने से आकुलता भी घटती जाती है। इसलिये औरों की अपेक्षा देवगति में सुख है ऐसा भी कहते हैं; परन्तु परमार्थ से कषायभाव होने से दुःख ही है।

प्रश्न : 27. मनुष्य गति को चारों गतियों में प्रधान क्यों कहा ?

उत्तर : एक मनुष्य पर्याय ही ऐसी है, जिसमें यह जीव अपने भला होने का उपाय करे तो हो सकता है। इस पर्याय में धर्मसाधन कर यह जीव रत्नत्रय प्राप्त कर सकता है; अतः इसे चारों गतियों में प्रधान कहा।

प्रश्न : 28. दुःख का मूल कारण चार प्रकार की इच्छाओं का निरूपण कीजिए।

उत्तर : चार प्रकार की इच्छायें निम्न हैं -

- (1) विषय सामग्री को ग्रहण करने की इच्छा।
- (2) कषाय भाव के अनुसार कार्य करने की इच्छा।
- (3) पापोदय से प्राप्त अनिष्ट संयोगों को दूर करने की इच्छा।
- (4) उपरोक्त इच्छाओं की पूर्तिरूप प्रवर्तने की इच्छा जो पुण्योदय

के अनुसार होती है।

प्रश्न : 29. दुःख से निवृत्ति का मूल उपाय क्या है ?

उत्तर : मिथ्यात्व, अज्ञान और असंयम से जीव दुःखी हो रहा है; अतः इसे दूर कर रत्नत्रय की प्राप्ति ही दुःख निवृत्ति (सुख प्राप्ति) का एकमात्र उपाय है।

प्रश्न : 30. ऐसा सुख किस प्रकार और कहाँ संभव है ?

उत्तर : जीव को कषायभाव से विषयों की इच्छा बहुत होती है और कषायभाव के अनुसार कार्य नहीं बनने से जीव बहुत दुःखी होता है; अतः कषायभाव मिटकर इच्छा का अभाव हो - वही सुखी होने का उपाय है। ऐसा सुख मोक्ष अवस्था में पाया जाता है; अतः मोक्षरूप अवस्था ही हितकर और उपादेय है। जो जीव सुखी होना चाहते हों, वे संसार और मोक्ष का स्वरूप पहचानकर मोक्ष का साधन करें, तो सुखी हों। ●

चतुर्थ अधिकार

प्रश्न : 1. चतुर्थ अध्याय की विषय-वस्तु बताइये।

उत्तर : चतुर्थ अध्याय में अगृहीत मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र का निरूपण किया गया है।

प्रश्न : 2. चतुर्थ अध्याय में अगृहीत मिथ्यात्व का वर्णन किया गया है - स्पष्ट कीजिये।

उत्तर : चतुर्थ अध्याय में जिसप्रकार के मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र का निरूपण है वह जीव को अनादिकाल से है। अनादि संस्कार रूप प्रवृत्ति होने से इसे अगृहीत मिथ्यात्व कहते हैं और यह चारों गति के जीवों में समान रूप से पाया जाता है।

प्रश्न : 3. मिथ्यादर्शन का स्वरूप बताइये।

उत्तर : दर्शन मोह के उदय में होने वाला अतत्त्वश्रद्धान मिथ्यादर्शन कहलाता है अर्थात् वस्तु जैसी नहीं है, उसे वैसा मानना, जैसी है वैसा न मानना - ऐसा विपरीताभिनिवेशरूप श्रद्धान मिथ्यादर्शन कहलाता है।

प्रश्न : 4. मिथ्यादर्शन को छोड़ने का उपाय पदार्थों को यथार्थ जानना है, केवलज्ञान के बिना पदार्थ यथार्थ भासित नहीं होते और पदार्थ यथार्थ भासित हुये बिना यथार्थ श्रद्धान नहीं होता फिर मिथ्यादर्शन का त्याग कैसे बने ?

उत्तर : मिथ्यादर्शन के त्याग के लिये सभी पदार्थों का यथार्थ जानना आवश्यक नहीं है; अपितु मात्र प्रयोजनभूत पदार्थों को यथार्थ जानना आवश्यक है और प्रयोजनभूत पदार्थों को प्रगट मतिश्रुत ज्ञान द्वारा यथार्थ जाना जा सकता है।

प्रश्न : 5. प्रयोजनभूत - अप्रयोजनभूत पदार्थ कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : जिन विशेषों सहित जीव-अजीव का यथार्थ श्रद्धान करने से स्व-पर का श्रद्धान हो, रागादिक दूर करने का श्रद्धान हो, उनमें सुख उत्पन्न हो तथा अयथार्थ श्रद्धान करने से स्व-पर का श्रद्धान न हो, रागादिक दूर करने का श्रद्धान न हो, इसलिये दुःख उत्पन्न हो, उन विशेषों सहित जीव-अजीव पदार्थ प्रयोजनभूत है। शेष विशेष अप्रयोजनभूत हैं।

प्रश्न : 6. जीव अजीव तत्त्व संबंधी अन्यथा श्रद्धान का निरूपण कीजिये।

उत्तर : जीव अनादि काल से कर्म निमित्त से अनेक पर्यायों को धारण करता है, जो स्वयं आत्मा और अनंत पुद्गल परमाणुमय शरीर उनसे एक बंधान रूप है। जीव इन दोनों की मिलीजुली अवस्था को यह मैं हूँ, ये मेरे हैं, मैं इनका कर्ता-भोक्ता हूँ - ऐसा मानता है। अपने और शरीर को एक ही मानता है। यह जीव-अजीव तत्त्व संबंधी भूल है।

प्रश्न : 7. जीव-अजीव तत्त्व संबंधी भूल का कारण बताइये।

उत्तर : जीव-अजीव तत्त्व संबंधी भूल के निम्न कारण हैं -

(1) आत्मा को अनादि से इन्द्रिय ज्ञान है, उससे वह स्वयं अमूर्तिक तो भासित होता नहीं; परन्तु शरीर मूर्तिक है, वह भासित होता है। आत्मा किसी को आपरूप जानकर अहंबुद्धि धारण करे ही करे सो जब स्वयं पृथक् भासित नहीं होता तब जीव और पुद्गल के समुदाय रूप असमानजातीय पर्याय (जो दिखाई देती है) में अहंबुद्धि धारण करता है।

(2) आत्मा और शरीर के परस्पर निमित्त-नैमित्तिक संबंध बहुत हैं। इसलिये भिन्नता भासित नहीं होती और जिस विचार से भिन्नता भासित होती है वह मिथ्यादर्शन के जोर से हो नहीं सकता। इसलिये पर्याय में ही अहंबुद्धि रहती है।

प्रश्न : 8. आस्रवतत्त्व संबंधी अन्यथा श्रद्धान का निरूपण कीजिये।

उत्तर : (1) मोह के उदय में होने वाले मिथ्यात्व कषायादि भावों को अपना स्वभाव जानता है, कर्मोपाधि से हुए हैं ऐसा नहीं जानता।

(2) ये भाव आकुलतारूप होने से वर्तमान दुःखरूप और कर्मबंध का कारण होने से आगामी दुःख के कारण हैं - ऐसा न मानकर अन्यथा प्रवर्तता है।

(3) इन भावों का जैसा फल आता है, वैसा नहीं मानता, अन्यथा ही मानता है।

प्रश्न : 9. बंध तत्त्व संबंधी अयथार्थ श्रद्धान का निरूपण कीजिये।

उत्तर : इन आस्रव भावों से कर्मों का बंध होता है तथा उसके उदयानुसार कार्य दिखाई देता है; परन्तु यह उसको न पहचानकर या तो इसका कर्ता स्वयं को मानता है या किसी और को मानता है या मूढ़ होकर भवितव्य को मानता है और वृथा खेदखिन्न होता है।

प्रश्न : 10. संवर तत्त्व संबंधी अयथार्थ श्रद्धान का निरूपण कीजिये।

उत्तर : (1) आस्रव का अभाव संवर है। जब यह जीव आस्रव को ही यथार्थ नहीं पहिचानता तब उसके अभावरूप संवर को भी यथार्थ नहीं जानता।

(2) जीव आस्रवभावों से दुःखी है, उसके संवर का उपाय न कर, परपदार्थों को दुःख का कारण मानकर उनका संवर (रोकने का) करने का उपाय करता है; परन्तु परपदार्थ तो इसके आधीन है नहीं, वृथा ही खेदखिन्न होता है।

प्रश्न : 11. निर्जरा तत्त्व संबंधी अयथार्थ श्रद्धान का निरूपण कीजिये ।

उत्तर : (1) बंध का एकदेश अभाव निर्जरा है, जब यह जीव बंध को यथार्थ नहीं पहिचानता तब उसके एकदेश अभावरूप निर्जरा को कैसे पहिचानेगा ?

(2) दुख का कारण तो कर्म बंधन है । उसको न पहिचानकर अन्य पर वस्तु को दुःख का कारण मानकर उसे हटाने का प्रयत्न करता है; परन्तु परपदार्थ तो इसके आधीन है नहीं, वृथा ही खेदखिन्न होता है ।

प्रश्न : 12. मोक्ष संबंधी अयथार्थ श्रद्धान का निरूपण कीजिये ।

उत्तर : (1) सर्व कर्मबंध के अभाव का नाम मोक्ष है, जो बंध को यथार्थ नहीं पहिचानता वह उसके अभावरूप मोक्ष को यथार्थ कैसे पहिचानेगा?

(2) कर्मोदय का भान नहीं है और परपदार्थों को दुःख का कारण मानकर उनको हटाकर सुखी होने का प्रयत्न करता है, वो इसके आधीन नहीं हैं, यह वृथा ही खेदखिन्न होता है ।

प्रश्न : 13. पुण्य-पाप संबंधी अयथार्थ श्रद्धान का निरूपण कीजिये ।

उत्तर : पुण्य-पाप तथा उसके कारण शुभाशुभ भाव आस्रव-बंध के ही विशेष हैं, इसलिये इनकी एक जाति है; परन्तु यह जीव मिथ्यादर्शन से पाप व पुण्य के उदय व उसके कारणों को बुरा-भला जानता है; परन्तु दोनों ही आकुलता व कर्मबन्ध का कारण होने से बुरे ही हैं ।

प्रश्न : 14. मिथ्याज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर : प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों को अयथार्थ (संशय-विपर्यय-अनध्यवसायरूप) जानने का नाम मिथ्याज्ञान है ।

प्रश्न : 15. मिथ्यादृष्टि का सर्वज्ञान झूठा और सम्यग्दृष्टि का सर्वज्ञान सच्चा ? कथन की समीक्षा कीजिये ।

उत्तर : यदि मात्र जानने ही का प्रयोजन हो तो वहाँ सच-झूठ जानने की अपेक्षा ज्ञान को सम्यक्-मिथ्या नाम दिया जाता है; परन्तु यहाँ संसार-मोक्ष के कारणभूत वस्तुओं के सच-झूठ जानने का निर्धारण करना है; अतः यहाँ तो प्रयोजनभूत जीवादिक तत्त्वों को यथार्थ-अयथार्थ जानने की अपेक्षा सम्यक्-मिथ्या ज्ञान कहे हैं । सम्यग्दृष्टि प्रयोजनभूत तत्त्वों को यथार्थ जानता है और मिथ्यादृष्टि प्रयोजनभूत तत्त्वों को यथार्थ नहीं जानता है । इसी अभिप्राय से सिद्धान्त में मिथ्यादृष्टि के सर्व जानने को मिथ्याज्ञान और सम्यग्दृष्टि के सर्वजानने को सम्यग्ज्ञान कहा ।

प्रश्न : 16. इस मिथ्याज्ञान का कारण क्या ?

उत्तर : जिसप्रकार विष के संबंध से भोजन भी विषरूप हो जाता है, उसीप्रकार मोह के उदय से जो मिथ्यात्वभाव होता है, वह इस मिथ्याज्ञान का कारण है ।

प्रश्न : 17. ज्ञानावरण कर्म के उदय या क्षयोपशम को मिथ्याज्ञान का कारण क्यों नहीं कहा ?

उत्तर : ज्ञानावरण कर्म के उदय में ज्ञान के अभावरूप अज्ञान भाव होता है, जिसमें सम्यक्/मिथ्या का कुछ प्रयोजन है नहीं तथा ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से किंचित् मतिज्ञानादि होते हैं जो स्वभाव का अंश है । यह अवस्था सम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टि दोनों में पायी जाती है; अतः दोनों को मिथ्याज्ञान-सम्यग्ज्ञान का सद्भाव ठहरेगा, जो सिद्धान्त विरुद्ध है । अतः मिथ्याज्ञान का हेतु ज्ञानावरण कर्म के उदय या क्षयोपशम को नहीं कहा; ज्ञानावरण कर्म के उदय से होने वाला अज्ञान संसार-मोक्ष के लिये कारण नहीं है । मोह के उदय से हुए भाव को ही कारण कहा ।

प्रश्न : 18. ज्ञानपूर्वक श्रद्धान होता है; अतः पहले ज्ञान बाद में दर्शन कहो?

उत्तर : है तो ऐसा ही; जाने बिना श्रद्धान नहीं होता; परन्तु ज्ञान के मिथ्या और सम्यक् - ऐसी संज्ञा मिथ्यादर्शन और सम्यग्दर्शन के निमित्त से होती है। इसलिये जहाँ सामान्य ज्ञान-श्रद्धान का निरूपण हो वहाँ ज्ञान कारणभूत है। उसे प्रथम कहना और श्रद्धान कार्यभूत है उसे बाद में कहना तथा जहाँ मिथ्या-सम्यक् ज्ञान-श्रद्धान का निरूपण हो वहाँ श्रद्धान कारणभूत है, उसे प्रथम कहना और ज्ञान कार्यभूत है उसे बाद में कहना।

प्रश्न : 19. ज्ञान-श्रद्धान तो युगपत् होते हैं, उनमें कारण-कार्यपना कैसे कहा जाएगा ?

उत्तर : वह हो तो वह हो, इस अपेक्षा कारण-कार्यपना होता है। दीपक की भांति। जैसे दीपक और प्रकाश युगपत् होने पर भी दीपक कारण है और प्रकाश कार्य; उसी प्रकार मिथ्या-सम्यक् दर्शन-ज्ञान के कारण-कार्यपना समझना।

प्रश्न : 20. मिथ्यादर्शन के संयोग से ही ज्ञान मिथ्या नाम पाता है तो मिथ्यादर्शन को ही संसार का कारण कहो मिथ्याज्ञान को अलग संसार का कारण किसलिये कहा ?

उत्तर : ज्ञान की अपेक्षा तो मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि को क्षयोपशम ज्ञान में कुछ भेद नहीं है, इसलिये ज्ञान में कुछ दोष नहीं है; परन्तु क्षयोपशम ज्ञान जहाँ लगता है, एक ज्ञेय में लगता है और मिथ्यादर्शन के निमित्त से वह क्षयोपशम ज्ञान अन्य ज्ञेयों में तो लगता है; प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों के ज्ञान करने में नहीं लगता, सो यह ज्ञान का दोष है, इसलिये मिथ्याज्ञान को पृथक् संसार का कारण कहा।

प्रश्न : 21. मिथ्याचारित्र का स्वरूप बताइये ?

उत्तर : मिथ्यादर्शनज्ञान सहित चारित्र मोह के उदय से जो कषायभाव होता है, उसका नाम मिथ्याचारित्र है। यहाँ अपने स्वरूपरूप प्रवृत्ति नहीं है, झूठी पर स्वभाव रूप प्रवृत्ति करना चाहता है सो यह बनती नहीं, इसलिये इसका नाम मिथ्याचारित्र है।

प्रश्न : 22. इष्ट-अनिष्ट की कल्पना को मिथ्या क्यों कहा ?

उत्तर : जो अपने को सुखदायक उपकारी हो उसे इष्ट तथा जो अपने को दुःखदायक अपकारी हो, उसे अनिष्ट कहते हैं। लोक में सर्व पदार्थ अपने स्वभाव के कर्ता हैं। कोई किसी को सुख-दुःखदायक नहीं है। उनमें इष्ट-अनिष्टपना तो है नहीं। यदि पदार्थों में इष्ट-अनिष्टपना होता जो पदार्थ इष्ट होता वह सभी को इष्ट और जो पदार्थ अनिष्ट होता वह सभी को अनिष्ट होता; परन्तु ऐसा है नहीं। यह जीव कल्पना द्वारा अपने कषाय परिणामों से उन्हें इष्ट-अनिष्ट मानता है सो यह कल्पना झूठी है, इसलिये इष्ट-अनिष्ट की कल्पना को मिथ्या कहा।

प्रश्न : 23. बाह्य वस्तुओं के संयोग तो कर्म निमित्त से बनते हैं; अतः कर्मों में तो राग-द्वेष करना ?

उत्तर : कर्म तो जड़ हैं, उनमें कुछ सुख-दुःख देने की इच्छा नहीं है तथा वे स्वयमेव तो कर्मरूप परिणामित होते नहीं हैं। जीव के भावों के निमित्त से कर्मरूप होते हैं, जैसे कोई अपने हाथ में पत्थर लेकर सिर फोड़े तो पत्थर का क्या दोष ? उसीप्रकार जीव अपने रागादि भावों से पुद्गल को कर्मरूप परिणामित कर अपना बुरा करे तो कर्म का क्या दोष? अतः कर्मोदय में भी राग-द्वेष करना मिथ्या है।

प्रश्न : 24. राग-द्वेष के विधान व विस्तार पर संक्षिप्त टिप्पणी कीजिये।

उत्तर : प्रथम तो जीव को पर्याय में अहं बुद्धि है, सो यह जीव अपने को और शरीर को एक जानकर प्रवर्तता है, फिर शरीर के अनुकूल-प्रतिकूल कारणों में राग-द्वेष करता है, फिर कारणों के कारणों में भी राग-द्वेष करता है। इसप्रकार राग-द्वेष की परम्परा प्रवर्तती है। अनेक बार कषायवश शरीर की अवस्था में कारण नहीं होने वाले पदार्थों में भी राग-द्वेष करता है।

प्रश्न : 25. मोह की महिमा पर संक्षिप्त टिप्पणी कीजिये।

उत्तर : ये मिथ्यादर्शनादिक भाव अनादि से जीव के पाये जाते हैं। इनके कारण बिना सिखाये ही मोह के उदय से पर पदार्थों में एकत्व/ममत्व/कर्तव्य/भोक्तृत्व रूप परिणमन होता है। मनुष्यादिक को सत्यविचार का कारण मिलने पर भी सम्यक् परिणमन नहीं होता, श्रीगुरु के उपदेश का निमित्त बने, वे बारम्बार समझायें तो भी यह कुछ विचार नहीं करता तथा स्वयं को प्रत्यक्ष भासित हो तो भी यह नहीं मानता, अन्यथा ही मानता है। जैसे शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न भासित होने पर भी एक मानता है। मरण अवश्य होगा - ऐसा जानने पर भी कुछ कर्तव्य नहीं करता, परलोक में जाना प्रत्यक्ष जानने पर भी उसके अर्थ कुछ प्रयत्न नहीं करता, विषय-कषाय परिणति तथा हिंसादि द्वारा स्वयं दुःखी होता है तो भी उन्हीं में प्रवर्तता है, सो यह मोह की महिमा है।

(नोट :- पाँचवाँ अध्याय स्वयं पठन के लिये निर्धारित है, अतः उसके प्रश्नोत्तर यहाँ नहीं दिये जा रहे हैं)



छठवाँ अधिकार

प्रश्न : 1. कुदेव किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो हित के कर्ता नहीं हैं और उन्हें भ्रम से हित का कर्ता जानकर सेवन करे सो कुदेव है।

प्रश्न : 2. कुदेव का सेवन जीव कितने प्रयोजनों से करता है ?

उत्तर : कुदेव का सेवन जीव तीन प्रयोजनों से करता है -

- (1) इस लोक में सुख संबंधी प्रयोजन
- (2) परलोक में सुख संबंधी प्रयोजन
- (3) मोक्ष का प्रयोजन

प्रश्न : 3. कुदेव सेवन से इन प्रयोजनों की पूर्ति होती है या नहीं ?

उत्तर : इस लोक/परलोक में सुख संबंधी प्रयोजन की पूर्ति पुण्योदय से होती है; परन्तु कुदेव सेवन में हिंसा-विषयकषायादिक रूप पाप परिणाम का ही अधिकार है। इसलिये कुदेव सेवन से इसलोक/परलोक संबंधी प्रयोजन की पूर्ति नहीं होती तथा जो मोक्ष के प्रयोजन से कुदेव का सेवन करते हैं उनके स्वयं ही मोक्ष का ठिकाना नहीं है तो उनके भक्तों को मोक्षमार्ग की प्राप्ति कैसे होगी ? अतः इनसे मोक्ष का प्रयोजन भी सिद्ध नहीं होता।

प्रश्न : 4. व्यंतरादिक को पूजने का निषेध क्यों कहते हो ?

उत्तर : यह जीव व्यंतरादिक के नाम पर जिनको पूजता है, उनमें अनेक तो कल्पनामात्र देव हैं तथा कितने ही व्यंतरादिक हैं जो स्वयं के पाप-पुण्य के उदय के बिना किसी का भला-बुरा करने में समर्थ नहीं है; अतः उनको पूजना मिथ्या है।

प्रश्न : 5. व्यंतर अपनी शक्ति से कदाचित् सुख-दुख का साधन करते देखे जाते हैं; अतः उनको मानने पूजने में क्या दोष है ?

उत्तर : (1) पुण्य-पाप के उदय के बिना व्यंतर किसी भी जीव को सुख-दुख देने में समर्थ नहीं है, उल्टे उनको पूजना रागादि और पाप की वृद्धि करने वाला होने से बुरा करने वाला ही है।

(2) व्यंतर जो भी करते हैं वे कौतूहल से करते हैं, अपने में उनके कौतूहल का स्थान होने पर दुख होगा इसलिये भी उनको मानना-पूजना योग्य नहीं।

प्रश्न : 6. क्षेत्रपाल पद्मावती आदि जो जिनमत के अनुसारी देव हैं, उनको पूजने में क्या दोष है ?

उत्तर : जिनमत में संयम धारण करने पर पूज्यपना होता है और देवों में संयम होता ही नहीं; तथा यदि सम्यक्त्वी मानकर पूजते हो तो भवनत्रिक में उसकी भी मुख्यता नहीं है।

यदि कहोगे कि उनको जिनभक्ति विशेष है सो भक्ति की विशेषता तो सौधर्म इन्द्र के भी हैं; वह सम्यग्दृष्टि भी है फिर उसे छोड़कर इन्हें क्यों पूजना?

तथा यदि कहोगे कि जिसप्रकार राजा के प्रतिहारादिक हैं, उसी प्रकार ये तीर्थकर के हैं सो यह झूठी मान्यता है क्योंकि समवशरण में इनका अधिकार नहीं है।

अतः क्षेत्रपाल पद्मावती आदि को पूजना भी मिथ्या है।

प्रश्न : 7. कुदेवों को मानना कार्यकारी नहीं है तो न हो उनके मानने में कुछ बिगाड़ भी तो नहीं होता ?

उत्तर : यदि बिगाड़ न हो तो निषेध क्यों करें। एक तो मिथ्यात्व दृढ होने से मोक्षमार्ग दुर्लभ हो जाता है, यह बड़ा बिगाड़ है; और दूसरे पाप बंध होने से आगामी भव में दुःख पाते हैं।

प्रश्न : 8. मिथ्यात्वादिभाव तो अतत्त्व-श्रद्धानादि होने पर होते हैं और पापबंध खोटे (बुरे) कार्य करने से होता है; सो उनके मानने से मिथ्यात्वादिक व पापबंध किस प्रकार होंगे?

उत्तर : प्रथम तो परद्रव्यों को इष्ट-अनिष्ट मानना ही मिथ्या है, क्योंकि कोई द्रव्य किसी का मित्र-शत्रु है नहीं। तथा जो इष्ट-अनिष्ट पदार्थ पाये जाते हैं उसका कारण पुण्य-पाप है; इसलिये जैसे पुण्यबंध हो, पापबंध न हो; वह करना। तथा यदि कर्म उदय का भी निश्चय न हो और इष्ट-अनिष्ट के बाह्य कारणों के संयोग-वियोग का उपाय करे; परन्तु कुदेव को मानने से इष्ट-अनिष्ट बुद्धि दूर नहीं होती, केवल वृद्धि को प्राप्त होती है; तथा उससे पुण्यबंध भी नहीं होता, पापबंध होता है। तथा कुदेव किसी को धनादिक देते या छुड़ा लेते नहीं देखे जाते, इसलिये ये बाह्यकारण भी नहीं हैं। इनकी मान्यता किस अर्थ से की जाती है? जब अत्यन्त भ्रमबुद्धि हो, जीवादि तत्त्वों के श्रद्धान-ज्ञान का अंश भी न हो और राग-द्वेष की अति तीव्रता हो; तब जो कारण नहीं हैं उन्हें भी इष्ट-अनिष्ट का कारण मानते हैं, तब कुदेवों की मान्यता होती है।

प्रश्न : 9. कुगुरु किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो विषय-कषायादि अधर्मरूप परिणमित होते हैं और मानादिक से अपने को धर्मात्मा मानते हैं; धर्मात्मा के योग्य नमस्कारादिक क्रिया कराते हैं - इसप्रकार धर्म का आश्रय करके अपने को बड़ा मनवाते हैं; वे सब कुगुरु जानना।

प्रश्न : 10. टोडरमलजी ने कितने प्रकार से कुगुरु का निरूपण किया है ?

उत्तर : टोडरमलजी ने कुल अपेक्षा, पट्ट अपेक्षा, भेष अपेक्षा कुगुरु का निरूपण किया है।

प्रश्न : 11. कुगुरु के संदर्भ में शिथिलाचार पोषक युक्तियाँ और उनका निराकरण दीजिये ।

उत्तर : कुगुरु के संदर्भ में शिथिलाचार पोषक युक्तियाँ और उनका निराकरण निम्नानुसार है -

(1) शंका - गुरु बिना तो निगुरा कहलायेंगे और वैसे गुरु इस समय दिखते नहीं हैं, इसलिये इन्हीं को गुरु मानना?

समाधान - निगुरा तो उसका नाम है जो गुरु मानता ही नहीं तथा जो गुरु को तो माने; परन्तु इस क्षेत्र में गुरु का लक्षण न देखकर किसी अन्य को गुरु न माने तो इस श्रद्धान से तो निगुरा होता नहीं है। अपितु गुरु जैसा ना हो और गुरु माने सो ही तो गुरु का अन्यथा श्रद्धान है।

(2) शंका - जैन शास्त्रों में वर्तमान में केवली का तो अभाव कहा है, मुनि का तो अभाव नहीं कहा है ?

उत्तर - ऐसा तो कहा नहीं है कि इन देशों में सद्भाव रहेगा; परन्तु भरतक्षेत्र में सद्भाव कहते हैं, सो भरतक्षेत्र तो बहुत बड़ा है, कहीं, कभी सद्भाव होगा, इसलिये अभाव नहीं कहा है।

(3) शंका - एक अक्षर के दाता को गुरु मानते हैं, तो जो शास्त्र सिखलायें व सुनायें उन्हें गुरु कैसे न मानें?

समाधान - गुरु नाम बड़े का है। सो जिस प्रकार की महंतता जिसके सम्भव हो, उसे उस प्रकार गुरुसंज्ञा संभव है। जैसे - कुल अपेक्षा माता-पिता को गुरु संज्ञा है, यहाँ तो धर्म का अधिकार है, इसलिये जिसके धर्म अपेक्षा महंतता सम्भवित हो उसे गुरु जानना। धर्म नाम चारित्र का है, इसलिये चारित्र के धारक को ही गुरु संज्ञा है।

(4) शंका - अब श्रावक भी तो जैसे संभव है वैसे नहीं हैं, इसलिये जैसे श्रावक वैसे मुनि ?

समाधान - श्रावक संज्ञा तो शास्त्र में सर्व गृहस्थ जैनियों की है। इसलिये जैन गृहस्थ को श्रावकपना संभवित है। मुनिसंज्ञा तो निर्ग्रन्थ के सिवा कहीं नहीं है। श्रावक के तो आठ मूलगुण कहे हैं, इसलिये मद्य, मांस, मधु, पाँच उदम्बरादि फलों का भक्षण श्रावकों के है नहीं, इसलिये किसी प्रकार से श्रावकपना तो सम्भवित भी है; परन्तु मुनि के अट्ठाईस मूलगुण हैं, सो वेषियों के दिखायी ही नहीं देते, इसलिये मुनिपना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है।

(5) शंका - हमारे अंतरंग में श्रद्धान तो सत्य है; परन्तु बाह्य लज्जादि से शिष्टाचार करते हैं, सो फल तो अंतरंग का होगा ?

समाधान - षट्पाहुड़ में लज्जादि से वन्दनादिक का निषेध बतलाया है। कोई जबरदस्ती मस्तक झुकाकर हाथ जुड़वाये, तब तो यह सम्भव है कि हमारा अंतरंग नहीं था; परन्तु आप ही मानादिक से नमस्कारादि करे, वहाँ अंतरंग कैसे न कहें ? अंतरंग में तो कुगुरु सेवन को बुरा जाने; परन्तु उनको व लोगों को भला मनवाने के लिये सेवन करे तो श्रद्धानी कैसे कहें ? इसलिये बाह्यत्याग करने पर ही अंतरंग त्याग संभव है। इसलिये जो श्रद्धानी जीव हैं, उन्हें किसी प्रकार से भी कुगुरुओं की सुश्रुषा आदि करना योग्य नहीं है।

प्रश्न : 12. कुधर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जहाँ हिंसादि पाप उत्पन्न हों व विषय-कषायों की वृद्धि हो वहाँ धर्म माने, सो कुधर्म जानना।

प्रश्न : 13. कुधर्म में मिथ्यात्वभाव किस प्रकार हुआ ?

उत्तर : तत्त्वश्रद्धान करने में प्रयोजनभूत तो एक यह है कि रागादिक छोड़ना। इसी भाव का नाम धर्म है। यदि रागादिक भावों को बढ़ाकर धर्म माने, वहाँ तत्त्वश्रद्धान कैसे रहेगा? तथा जिनआज्ञा से प्रतिकूल

हुआ। रागादिभाव तो पाप हैं, उन्हें धर्म माना सो यह झूठा श्रद्धान हुआ, रागादि में धर्मबुद्धि यही कुधर्म है - इसलिये कुधर्म के सेवन में मिथ्यात्वभाव है।

प्रश्न : 14. पाप छोड़ने का क्या क्रम है ?

उत्तर : जिनधर्म में तो यह आम्नाय है कि पहले बड़ा पाप छोड़ाकर फिर छोटा पाप छोड़ाया है, इसलिये इस कुदेवादि के सेवनरूप मिथ्यात्व को सप्तव्यसनादिक से भी बड़ा पाप जानकर पहले छोड़ाया है।

प्रश्न : 15. गृहीत व अगृहीत मिथ्यात्व किसे कहते हैं ?

उत्तर : अनादि से जो मिथ्यात्वादि भाव पाये जाते हैं, उन्हें अगृहीत मिथ्यात्व कहते हैं तथा उनके पुष्ट करने के कारणों (मिथ्या देव-शास्त्र-गुरु आदि) से विशेष मिथ्यात्वादिक भाव होते हैं, उन्हें गृहीत मिथ्यात्व कहते हैं।

प्रश्न : 16. गृहीत मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र को स्पष्ट कीजिये।

उत्तर : कुदेव-कुगुरु-कुधर्म और कल्पित तत्त्वों का श्रद्धान गृहीत मिथ्यादर्शन है। विपरीत निरूपण द्वारा जिनमें रागादि का पोषण किया गया हो - ऐसे कुशास्त्रों का श्रद्धानपूर्वक अध्ययन मिथ्याज्ञान है। जिस आचरण में कषायों का सेवन हो और उसे धर्मरूप अंगीकार करे सो मिथ्या चारित्र है। ●

सातवाँ अधिकार

प्रश्न : 1. सातवें अध्याय में किस मिथ्यात्व का निरूपण है और क्यों ?

उत्तर : सातवें अध्याय में गृहीत मिथ्यात्व का निरूपण है; क्योंकि जैनशास्त्रों को पढकर उसकी विवक्षा नहीं समझने के कारण होने वाले मिथ्यात्व का इसमें वर्णन है। शास्त्र के आधार से नया ग्रहण किया होने से इसे गृहीत मिथ्यात्व कहा है।

प्रश्न : 2. सातवें अध्याय में सूक्ष्म मिथ्यात्व का वर्णन है। यहाँ सूक्ष्म से क्या आशय है ?

उत्तर : सातवें अध्याय में जिस मिथ्यात्व का वर्णन है, वह स्थूल रूप से नहीं दिखाई देता है (जिसप्रकार स्थूल गृहीत मिथ्यात्व दिखाई देता है) स्वयं को भी आसानी से समझ में नहीं आता, अपितु मैं धर्म कर रहा हूँ - इसप्रकार भ्रम हो जाता है; अतः सातवें अध्याय में वर्णित मिथ्यात्व को सूक्ष्म मिथ्यात्व कहा।

प्रश्न : 3. सातवें अध्याय में कितने प्रकार के मिथ्यादृष्टियों का वर्णन है?

उत्तर : निश्चयाभासी, व्यवहाराभासी, उभयाभासी, सम्यक्त्व सन्मुख - इसप्रकार 4 प्रकार के मिथ्यादृष्टियों का वर्णन किया गया है।

प्रश्न : 4. निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि का स्वरूप बताइये।

उत्तर : जो जीव निश्चय को ना जानते हुए निश्चय नय के एकान्त को ग्रहण करते हैं, वे निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि हैं।

प्रश्न : 5. निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि का लक्षण बताइये।

उत्तर : निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि अपने को सिद्ध समान अनुभव करते हैं, प्रगट पर्याय में भी केवलज्ञान का सब्द्राव मानते हैं, रागादि भाव प्रत्यक्ष होने पर भी भ्रम से आत्मा को रागादि से रहित मानते हैं।

इसप्रकार पर्याय में केवलज्ञानादि का अभाव होने पर भी उसका सब्द्राव मानते हैं और रागादिक होने पर भी उनका अभाव मानते हैं।

प्रश्न : 6. शास्त्रों में आत्मा को सिद्ध समान शुद्ध, केवलज्ञानी तथा रागादि से रहित कहा गया है, तब निश्चयाभासी अपने को ऐसा मानता है, इसमें क्या दोष है ?

उत्तर : शास्त्रों में जो आत्मा को सिद्ध समान शुद्ध, केवलज्ञानी और रागादि से रहित कहा गया है, वह स्वभाव (द्रव्य) की अपेक्षा से कहा गया है; परन्तु निश्चयाभासी इस विवक्षा को न समझकर पर्याय अपेक्षा अपने को ऐसा मानकर स्वच्छंद वर्तता है (जबकि ऐसा नहीं है); यही निश्चयाभास है।

प्रश्न : 7. निश्चयाभासी की स्वच्छन्दता के 5 बिन्दु बताइये।

उत्तर : (1) शास्त्राभ्यास करना निरर्थक बतलाता है।

(2) द्रव्यादिक, गुणस्थान-मार्गणास्थान, त्रिलोकादि के विचार को विकल्प ठहराता है।

(3) तपश्चरण करने को वृथा क्लेश करना मानता है।

(4) व्रतादि धारण करने को बंधन में पड़ना ठहराता है।

(5) पूजनादिक कार्यों को शुभास्रव जानकर हेय ठहराता है।

प्रश्न : 8. शास्त्राभ्यास की उपयोगिता सिद्ध करने के संदर्भ में ग्रन्थानुसार तर्क प्रस्तुत कीजिये।

उत्तर : यदि शास्त्राभ्यास निरर्थक हो तो मुनियों के भी तो ध्यान और अध्ययन दो ही कार्य मुख्य हैं। ध्यान में उपयोग न लगे तब

अध्ययन ही में उपयोग को लगाते हैं, बीच में अन्य स्थान पर उपयोग लगाने योग्य नहीं है; तथा शास्त्राभ्यास द्वारा तत्त्वों को विशेष जानने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान निर्मल होता है; तथा वहाँ जब तक उपयोग रहे तब तक कषाय मन्द रहे और आगामी वीतरागभावों की वृद्धि हो - ऐसे कार्यों को निरर्थक कैसे मानें ?

प्रश्न : 9. 'हमें अध्यात्म शास्त्रों को ही पढना चाहिये अन्य शास्त्र नहीं' - निश्चयाभासी के इस कथन की समीक्षा करें।

उत्तर : यदि सच्ची दृष्टि हुई है तो सभी जैनशास्त्र कार्यकारी हैं। अध्यात्म-शास्त्रों में तो आत्मस्वरूप का मुख्य कथन है; सो सम्यग्दृष्टि होने पर आत्मस्वरूप का निर्णय तो हो चुका, तब तो ज्ञान की निर्मलता के अर्थ व उपयोग को मन्दकषायरूप रखने के अर्थ अन्य शास्त्रों का अभ्यास मुख्य चाहिये। तथा आत्मस्वरूप के निर्णय को स्पष्ट रखने के अर्थ अध्यात्म-शास्त्रों का भी अभ्यास चाहिये; परन्तु अन्य शास्त्रों में अरुचि तो नहीं होनी चाहिये। जिसको अन्य शास्त्रों की अरुचि है उसे अध्यात्म की रुचि सच्ची नहीं है।

जैसे जिसके विषयासक्तपना हो, वह विषयासक्त पुरुषों की कथा भी रुचिपूर्वक सुने व विषय के विशेष को भी जाने व विषय के आचरण में जो साधन हों, उन्हें भी हितरूप माने व विषय के स्वरूप को भी पहिचाने; उसीप्रकार जिसके आत्मरुचि हुई हो वह आत्मरुचि के धारक तीर्थकरादि के पुराणों को भी जाने तथा आत्मा के विशेष जानने के लिये गुणस्थानादिक को भी जाने तथा आत्म आचरण में जो व्रतादिक साधन हैं उनको भी हितरूप माने तथा आत्मा के स्वरूप को भी पहिचाने। इसलिये चारों ही अनुयोग कार्यकारी हैं।

प्रश्न : 10. निश्चयाभासी द्रव्यादिक के और गुणस्थानादिक के विचार को विकल्प ठहराता है – कथन का निराकरण कीजिये।

उत्तर : (1) चूंकि छद्मस्थ का उपयोग एक ज्ञेय में अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं रहता; अतः यदि निर्विकल्प उपयोग न रहे और इन विकल्पों को न करे तो बहुत रागादि के विकल्प होंगे।

(2) गुणस्थानादि के विचार वर्तमान रागादि घटने का कारण हैं और इनको जानने से तत्त्वज्ञान निर्मल होता है, अतः इनमें उपयोग लगाना।

प्रश्न : पूजनादि कार्यों को शुभास्रव जानकर हेय ठहराता है, इस बिन्दु के संदर्भ में ग्रन्थानुसार विचार रखें।

उत्तर : निश्चयाभासी पूजनादिक कार्य को शुभास्रव जानकर हेय मानता है, सो यह सत्य ही है; परन्तु यदि इन कार्यों को छोड़कर शुद्धोपयोगरूप हो तब तो भला ही है, परन्तु विषय कषायरूप अशुभरूप प्रवर्ते तो अपना बुरा ही किया।

शुभोपयोग से स्वर्गादि हों अथवा भली वासना से या भले निमित्त से कर्म के स्थिति-अनुभाग घट जायें तो सम्यक्त्वादि की भी प्राप्ति हो जाये और अशुभोपयोग से नरक निगोदादि हों अथवा बुरी वासना से या बुरे निमित्त से कर्म के स्थिति-अनुभाग बढ़ जायें तो सम्यक्त्वादिक महादुर्लभ हो जायें।

तथा शुभोपयोग होने से कषाय मन्द होती है और अशुभोपयोग होने से तीव्र होती है, सो मन्दकषाय का कार्य छोड़कर तीव्रकषाय का कार्य करना तो ऐसा है जैसे कड़वी वस्तु न खाना और विष खाना – सो यह अज्ञानता है।

तथा शुभ-अशुभ का परस्पर विचार करें तो शुभभावों में कषाय मन्द होती है, इसलिये बन्ध हीन होता है; अशुभभावों में कषाय तीव्र

होती है, इसलिये बन्ध बहुत होता है। इसप्रकार विचार करने पर अशुभ की अपेक्षा सिद्धान्त में शुभ को भला भी कहा जाता है। जैसे-रोग तो थोड़ा या बहुत बुरा ही है; परन्तु बहुत रोग की अपेक्षा थोड़े रोग को भला भी कहते हैं।

इसलिये शुद्धोपयोग न हो, तब अशुभ से छूटकर शुभ में प्रवर्तना योग्य है; शुभ को छोड़कर अशुभ में प्रवर्तना योग्य नहीं है।

प्रश्न : 11. केवल निश्चयाभास के अवलम्बी जीव की प्रवृत्ति का निरूपण ग्रन्थानुसार करें।

उत्तर : निश्चय नय का अवलम्बी कदाचित् “मैं ज्ञानी हूँ, मुझे कुछ अन्य नहीं चाहिये” – ऐसा मानकर ध्यानमुद्रा धारण कर मैं शुद्ध हूँ – ऐसा विचार कर संतुष्ट होता है। कदाचित् ज्ञानी को आस्रव बंध नहीं होता – ऐसा मानकर स्वच्छन्द होकर रागादिरूप प्रवर्तता है।

कितने ही जीव अशुभ में क्लेश मानकर व्यापार/स्त्री सेवन आदि कार्यों को घटाते हैं तथा शुभ को हेय जानकर शास्त्राभ्यासादि कार्यों में भी नहीं प्रवर्तते। शुद्धोपयोग की प्राप्ति नहीं हुई है; अतः वे जीव अर्थ, काम, धर्म, मोक्ष रूप पुरुषार्थ से रहित होते हुए आलसी निरुद्यमी होते हैं।

प्रश्न : 12. निश्चयाभासी प्रकरण के संदर्भ में ग्रन्थानुसार निर्विकल्प/सविकल्प दशा का वर्णन कीजिये।

उत्तर : राग-द्वेषवश किसी ज्ञेय को जानने में उपयोग लगाना और किसी ज्ञेय के जानने से छुड़ाना – इसप्रकार बारम्बार उपयोग का भ्रमाना उसका नाम विकल्प है। तथा जहाँ वीतरागरूप होकर जिसे जानते हैं, यथार्थ जानते हैं। अन्य-अन्य ज्ञेय को जानने के अर्थ उपयोग को भ्रमाते नहीं हैं, वहाँ निर्विकल्प दशा जानना।

प्रश्न : 13. व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो व्यवहार नय का ही सर्वथारूप श्रद्धान कर उस रूप प्रवर्तन करते हैं, वे व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि हैं।

प्रश्न : 14. व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि कितने प्रकार के हैं और कौन-कौन से ?

उत्तर : व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि 4 निम्न प्रकार के हैं -

- (1) कुल अपेक्षा धर्मधारक व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि
- (2) परीक्षा रहित आज्ञानुसारी धर्मधारक व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि
- (3) सांसारिक प्रयोजनार्थ धर्मधारक व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि
- (4) धर्मबुद्धि से धर्मधारक व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि

प्रश्न : 15. कुल अपेक्षा धर्मधारक व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि का स्वरूप बताइये।

उत्तर : जैनधर्म का स्वरूप न जानकर जो कुल में जैनधर्म की प्रवृत्ति होने से कुल क्रम से ही जैनी होते हैं, कुल प्रवृत्ति के अनुसार प्रवर्तते हैं, वे कुल अपेक्षा धर्मधारक व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि जानना।

यहाँ सच्चे धर्म को भी कुलाचार जानकर प्रवर्तने वाले को धर्मात्मा इसलिये नहीं कहा; क्योंकि वह धर्म का सेवन उसके मर्म को जानकर धर्मबुद्धि से नहीं, कुलाचार जानकर लोभ/भय से करता है। यदि कदाचित् कुलाचार बदल जाये तो यह भी बदल जायेगा; अतः इसे मिथ्यादृष्टि कहा।

प्रश्न : 16. परीक्षा रहित आज्ञानुसारी धर्मधारक व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि का स्वरूप बताइये।

उत्तर : जो 'शास्त्र की आज्ञा है' - ऐसा मानकर जैनधर्म का आचरण करते हैं, परीक्षा करके सत्यासत्य का निर्णय नहीं करते, वे परीक्षा रहित आज्ञानुसारी धर्मधारक व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि हैं।

इन्हें मिथ्यादृष्टि इसलिये कहा कि शास्त्र की आज्ञा मानने से धर्मात्मा होते हों तो सर्वधर्म वाले शास्त्र की आज्ञा मानते हैं, वे भी धर्मात्मा क्यों न हों ? दूसरी बात यह है कि शास्त्र में कदाचित् कोई अज्ञानी कषाय से अपने मन की राग-द्वेषरूप बातों को लिख दे तो उनका मानना भी धर्म ठहरेगा।

प्रश्न : 17. शास्त्र तो केवली की वाणी है, उसकी परीक्षा हम किस प्रकार करें ?

उत्तर : शास्त्रों में कितने ही कथन तो ऐसे हैं जिनकी प्रत्यक्ष-अनुमानादि द्वारा परीक्षा कर सकते हैं तथा कई कथन ऐसे हैं जो प्रत्यक्ष-अनुमानादि गोचर नहीं हैं; वे आज्ञा ही से प्रमाण होते हैं। वहाँ नाना शास्त्रों में जो कथन समान हों उनकी तो परीक्षा करने का प्रयोजन ही नहीं है; परन्तु जो कथन परस्पर विरुद्ध हो उनमें से जो कथन प्रत्यक्ष-अनुमानादि गोचर हों उनकी तो परीक्षा करना। वहाँ जिन शास्त्रों के कथन की प्रमाणता ठहरे, उन शास्त्रों में जो प्रत्यक्ष-अनुमानगोचर नहीं है - ऐसे कथन किये हों, उनकी भी प्रमाणता करना तथा जिन शास्त्रों के कथन की प्रमाणता न ठहरे उनके सर्व ही कथन अप्रमाण मानना।

प्रश्न : 18. शास्त्रों में परस्पर विरुद्ध कथन तो बहुत हैं, किन-किन की परीक्षा की जाये ?

उत्तर : मोक्षमार्ग में देव-गुरु-धर्म, जीवादि तत्त्व व बन्ध-मोक्षमार्ग प्रयोजनभूत हैं, सो इनकी परीक्षा कर लेना। जिन शास्त्रों में यह सच्चे कहे हों उनकी सर्व आज्ञा प्रमाण मानना, जिनमें यह अन्यथा प्ररूपित किये हों उनकी आज्ञा प्रमाण नहीं मानना।

प्रश्न : 19. जिनवचन में संशय करने से तो सम्यक्त्व के शंका नामक दोष होता है।

उत्तर : 'न जाने यह किस प्रकार है' - ऐसा मानकर निर्णय न करे, वहाँ शंका नामक दोष होता है तथा यदि निर्णय करने का विचार करते ही सम्यक्त्व में दोष लगता हो तो अष्टसहस्री में आज्ञाप्रधान से परीक्षा प्रधान को उत्तम किसलिये कहा ? पृच्छना आदि स्वाध्याय के अंग कैसे कहे ? प्रमाण-नय से पदार्थों का निर्णय करने का उपदेश किसलिये दिया ? विशेष जानने की इच्छा से प्रश्न करना शंका नामक दोष नहीं अपितु पृच्छना नामक स्वाध्याय का अंग है। इसलिये परीक्षा करके आज्ञा मानना योग्य है।

प्रश्न : 20. सांसारिक प्रयोजनार्थ धर्मधारक व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि का स्वरूप बताइये।

उत्तर : जो कपट से आजीविका के अर्थ व बड़ाई के अर्थ व कुछ विषय-कषाय का प्रयोजन जानकर जैनी होते हैं, वे सांसारिक प्रयोजनार्थ धर्मधारक व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि जानना। धर्म के आश्रय से भी यह विषय-कषाय का प्रयोजन चाहता है, सो अतितीव्र कषाय होने पर ऐसी बुद्धि आती है।

जैनधर्म का सेवन तो संसार-नाश के लिये किया जाता है, जो उसके द्वारा सांसारिक प्रयोजन साधना चाहते हैं, वे बड़ा अन्याय करते हैं। इसलिये वे मिथ्यादृष्टि तो हैं ही, पापी भी हैं।

प्रश्न : 21. धर्मबुद्धि से धर्मधारक व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि का स्वरूप बताइये।

उत्तर : कितने ही जीव धर्मबुद्धि से धर्म साधते हैं; परन्तु निश्चयधर्म को नहीं जानते, इसलिये अभूतार्थरूप धर्म को साधते हैं। वहाँ व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को ही मोक्षमार्ग जानकर उनका साधन करते हैं।

प्रश्न : 22. सम्यक्दर्शन संबंधी अन्यथा श्रद्धान का निरूपण कीजिये।

शास्त्र में देव-गुरु-धर्म की प्रतीति करने से सम्यक्त्व होना कहा है। ऐसी आज्ञा मानकर अरहन्तदेव, निर्ग्रन्थगुरु, जैनशास्त्र के अतिरिक्त औरों को नमस्कारादि करने का त्याग किया है; परन्तु उनके गुण-अवगुण की परीक्षा नहीं करते अथवा परीक्षा भी करते हैं तो तत्त्वज्ञानपूर्वक सच्ची परीक्षा नहीं करते, बाह्यलक्षणों द्वारा परीक्षा करते हैं, यह सम्यग्दर्शन संबंधी अन्यथा श्रद्धान है।

प्रश्न : 23. देव-भक्ति का अन्यथारूप बताइये।

उत्तर : धर्मबुद्धि से धर्मधारक व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि जीव सच्चे देव अरहंत का श्रद्धान वे इन्द्रादि द्वारा पूज्य हैं, अनेक अतिशय सहित हैं, क्षुधादि दोष रहित हैं, दिव्यध्वनि समवशरण आदि विभूति से युक्त हैं.... आदि विशेषणों के आधार से उनकी महिमा/भक्ति करता है; परन्तु उनके यथार्थ गुणों को नहीं पहिचानता।

अरहंतादि को दीनदयाल, अधम-उद्धारक, सुख-दुखदाता मानकर भक्ति करता है, सो जिसप्रकार अन्यमती कर्ताबुद्धि से ईश्वर को कर्ता मानते हैं, वैसा ही यह मानता है, यह तो पाप ही का अभिप्राय हुआ।

कोई अरहंतादि की भक्ति को मुक्ति का कारण जान अतिअनुरागी होता है, सो जैसे अन्यमती भक्ति से मुक्ति मानता है वैसा ही हुआ।

प्रश्न : 24. यथार्थ देव-भक्ति किसे कहें ?

उत्तर : राग का उदय आने पर भक्ति न करे तो पापानुराग हो, इसलिये अशुभराग छोड़ने के लिये ज्ञानी देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति में प्रवर्तते हैं और मोक्षमार्ग में बाह्य निमित्तमात्र भी जानते हैं; परन्तु यहाँ ही उपादेयपना मानकर सन्तुष्ट नहीं होते, शुद्धोपयोग के उद्यमी रहते हैं।

यही बात पंचास्तिकाय व्याख्या गाथा 136 की टीका में कही है -

इयं भक्तिः केवलभक्तिप्रधानस्याज्ञानिनो भवति । तीव्ररागज्वर-विनोदार्थमस्थानरागनिषेधार्थं क्वचित् ज्ञानिनोऽपि भवति ॥

अर्थ - यह भक्ति केवल भक्ति ही है प्रधान जिसके ऐसे अज्ञानी जीव के होती है तथा तीव्र रागज्वर मिटाने के अर्थ या कुस्थान के राग का निषेध करने के अर्थ कदाचित् ज्ञानी के भी होती है ।

प्रश्न : 25. गुरुभक्ति का अन्यथा रूप क्या है ?

उत्तर : कितने ही जीव आज्ञानुसार, ये जैन के साधु हैं, हमारे गुरु हैं, इसलिये इनकी भक्ति करनी - ऐसा विचारकर उनकी भक्ति करते हैं । कितने ही जीव परीक्षा भी करते हैं । वहाँ ये मुनि दया पालते हैं, शील पालते हैं, धनादि नहीं रखते हैं, उपवासादि तप करते हैं, क्षुधादि परीषह सहते हैं, किसी से क्रोधादि नहीं करते हैं, उपदेश देकर औरों को धर्म में लगाते हैं इत्यादि गुणों का विचारकर उनमें भक्तिभाव करते हैं; परन्तु इनके द्वारा सच्ची परीक्षा नहीं होती । सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता रूप मोक्षमार्ग ही मुनियों का सच्चा लक्षण है, उसे नहीं पहिचानते ।

प्रश्न : 26. शास्त्र भक्ति का अन्यथा स्वरूप बताइये ।

उत्तर : कितने ही जीव तो यह केवली भगवान की वाणी है, इसलिये केवली के पूज्यपने के कारण यह भी पूज्य है - ऐसा जानकर भक्ति करते हैं तथा कितने ही इसप्रकार परीक्षा करते हैं कि इन शास्त्रों में विरागता, दया, क्षमा, शील, संतोषादिक का निरूपण है इसलिये यह उत्कृष्ट है - ऐसा जानकर भक्ति करते हैं । सो ऐसा कथन तो अन्य शास्त्र वेदान्तादिक में भी पाया जाता है । इन शास्त्रों में त्रिलोकादि का

गम्भीर निरूपण है, इसलिये उत्कृष्टता जानकर भक्ति करते हैं; परन्तु यहाँ अनुमानादि का तो प्रवेश है नहीं, इसलिये सत्य-असत्य का निर्णय करके महिमा कैसे जानें ? इसलिये इसप्रकार सच्ची परीक्षा नहीं होती । यहाँ तो अनेकान्तरूप सच्चे जीवादितत्त्वों का निरूपण है और सच्चा रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग दिखलाया है । उसी से जैनशास्त्रों की उत्कृष्टता है, उसे नहीं पहिचानते ।

सात तत्त्व संबंधी अन्यथा श्रद्धान -

प्रश्न : 27. जीव-अजीव तत्त्व संबंधी अन्यथा श्रद्धान का निरूपण कीजिये ।

उत्तर : (1) शास्त्रों से जीव के त्रस-स्थावरादिरूप तथा गुणस्थान-मार्गणादिरूप भेद को जानता है, अजीव के पुद्गलादि भेदों को तथा उनके वर्णादि विशेषों को जानता है; परन्तु अध्यात्मशास्त्रों में भेदविज्ञान को कारणभूत व वीतरागदशा होने को कारणभूत जैसा निरूपण किया है, वैसा नहीं जानता ।

(2) किसी प्रसंगवश उसीप्रकार जानना हो जाये तब शास्त्रानुसार जान तो लेता है; परन्तु अपने को आपरूप जानकर पर का अंश भी अपने में न मिलाना और अपना अंश भी पर में न मिलाना - ऐसा सच्चा श्रद्धान नहीं करता है ।

(3) जैसे किसी और की ही बातें कर रहा हो, उस प्रकार से आत्मा का कथन करता है; परन्तु यह आत्मा 'मैं हूँ' - ऐसा भाव भासित नहीं होता ।

(4) जैसे किसी और को और से भिन्न बतलाता हो, उसप्रकार आत्मा और शरीर की भिन्नता प्ररूपित करता है; परन्तु मैं इन शरीरादिक से भिन्न हूँ - ऐसा भाव भासित नहीं होता ।

(5) पर्याय में जीव-पुद्गल के परस्पर निमित्त से अनेक क्रियाएँ

होती हैं, उन्हें दोनों द्रव्यों के मिलाप से उत्पन्न हुई जानता है; यह जीव की क्रिया है पुद्गल उसका निमित्त है, यह पुद्गल की क्रिया है जीव उसका निमित्त है - ऐसा भिन्न-भिन्न भाव भासित नहीं होता।

प्रश्न : 28. आस्रव तत्त्व तत्त्व संबंधी अन्यथा श्रद्धान का निरूपण कीजिये।

उत्तर : आस्रव तत्त्व में जो हिंसादिरूप पापास्रव हैं, उन्हें हेय जानता है; अहिंसादिरूप पुण्यास्रव हैं, उन्हें उपादेय मानता है; परन्तु यह तो दोनों ही कर्मबन्ध के कारण हैं, इनमें उपादेयपना मानना वही मिथ्यादृष्टि है।

तथा मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग - ये आस्रव के भेद हैं, उन्हें बाह्यरूप तो मानता है; परन्तु अंतरंग इन भावों की जाति को नहीं पहिचानता।

कुदेवादि के सेवनरूप गृहीतमिथ्यात्व को मिथ्यात्व जानता है; परन्तु अनादि अगृहीतमिथ्यात्व है, उसे नहीं पहिचानता।

बाह्य त्रस-स्थावर की हिंसा तथा इन्द्रिय-मन के विषयों में प्रवृत्ति को अविरति जानता है; हिंसा में प्रमाद परिणति मूल है और विषयसेवन में अभिलाषा मूल है, उसका अवलोकन नहीं करता।

बाह्य क्रोधादि करने को कषाय जानता है, अभिप्राय में राग-द्वेष बस रहे हैं, उनको नहीं पहिचानता।

बाह्य चेष्टा हो उसे योग जानता है, शक्तिभूत योगों को नहीं जानता।

राग-द्वेष-मोहरूप जो आस्रवभाव हैं, उनका तो नाश करने की चिन्ता नहीं और बाह्य क्रिया अथवा बाह्य निमित्त मिटाने का उपाय रखता है। इसलिये जो अंतरंग अभिप्राय में मिथ्यात्वादिरूप रागादिभाव हैं वे ही आस्रव हैं। उसे नहीं पहिचानता।

प्रश्न : 29. बंध तत्त्व संबंधी अन्यथा श्रद्धान का निरूपण कीजिये।

उत्तर : बंधतत्त्व में जो अशुभभावों से नरकादि के हेतुभूत पाप का बंध हो उसे तो बुरा जानता है और शुभभावों से देवादि के हेतुभूत पुण्य का बन्ध हो उसे भला जानता है। संसार के ही साधन अशुद्ध भावों से कर्मबन्ध होता है, उसमें भला-बुरा जानना वही मिथ्या श्रद्धान है।

प्रश्न : 30. संवर तत्त्व संबंधी अन्यथा श्रद्धान का निरूपण कीजिये।

उत्तर : संवरतत्त्व में अहिंसादिरूप शुभास्रवभावों से संवर मानता है; परन्तु एक ही कारण से पुण्यबंध भी माने और संवर भी माने वह नहीं हो सकता।

शंका - मुनियों के एक काल में एक भाव होता है, वहाँ उनके बन्ध भी होता है और संवर-निर्जरा भी होते हैं, सो किसप्रकार है ?

समाधान - वह भाव मिश्ररूप है। कुछ वीतराग हुआ है, कुछ सराग रहा है। जो अंश वीतराग हुए उनसे संवर है और जो अंश सराग रहे उनसे बन्ध है। सो एक भाव से तो दो कार्य बनते हैं; परन्तु एक प्रशस्तराग ही से पुण्यास्रव भी मानना और संवर-निर्जरा भी मानना सो भ्रम है।

सिद्धांत में गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, चारित्र - इनके द्वारा संवर होता है ऐसा कहा है, सो इनकी भी यथार्थ श्रद्धा नहीं करता। किस प्रकार ? सो कहते हैं -

(1) गुप्ति : बाह्य मन-वचन-काय की चेष्टा मिटाये, पाप-चिंतवन न करे, मौन धारण करे, गमनादि न करे; उसे वह गुप्ति मानता है। सो यहाँ तो मन में भक्ति आदि रूप प्रशस्तराग से नानाविकल्प होते हैं,

वचन-काय की चेष्टा स्वयं ने रोक रखी है, वहाँ शुभप्रवृत्ति है और प्रवृत्ति में गुप्तिपना बनता नहीं है, इसलिये वीतरागभाव होने पर जहाँ मन-वचन-काय की चेष्टा न हो वही सच्ची गुप्ति है।

(2) **समिति** : परजीवों की रक्षा के अर्थ यत्नाचार प्रवृत्ति को समिति मानता है। सो हिंसा के परिणामों से तो पाप होता है और रक्षा के परिणामों से संवर कहोगे तो पुण्यबन्ध का कारण कौन ठहरेगा ? तथा एषणासमिति में दोष टालता है वहाँ रक्षा का प्रयोजन है नहीं, इसलिये रक्षा ही के अर्थ समिति नहीं है।

तो समिति कैसी होती है ? मुनियों के किंचित् राग होने पर गमनादि क्रिया होती है, वहाँ उन क्रियाओं में अतिआसक्तता के अभाव से प्रमादरूप प्रवृत्ति नहीं होती। तथा अन्य जीवों को दुःखी करके अपना गमनादि प्रयोजन नहीं साधते, इसलिये स्वयमेव ही दया पलती है। इसप्रकार सच्ची समिति है।

(3) **धर्म** : बन्धादिक के भय से अथवा स्वर्ग-मोक्ष की इच्छा से क्रोधादि नहीं करते, परन्तु वहाँ क्रोधादि करने का अभिप्राय तो मिटा नहीं है। जैसे कोई राजादिक के भय से अथवा महंतपने के लोभ से परस्त्री का सेवन नहीं करता, तो उसे त्यागी नहीं कहते। वैसे ही यह क्रोधादिक का त्यागी नहीं है; तो त्यागी सच्चा कैसे होता है ? पदार्थ अनिष्ट-इष्ट भासित होने से क्रोधादिक होते हैं, जब तत्त्वज्ञान के अभ्यास से कोई इष्ट-अनिष्ट भासित न हो, तब स्वयमेव ही क्रोधादिक उत्पन्न नहीं होते, तब सच्चा धर्म होता है।

(4) **अनुप्रेक्षा** : अनित्यादि चिंतवन से शरीरादिक को बुरा जान, हितकारी न जानकर उनसे उदास होना अनुप्रेक्षा कहता है। सो यह तो जैसे कोई मित्र था, तब उससे राग था और पश्चात् उसके अवगुण

देखकर उदासीन हुआ, उसी प्रकार शरीरादिक से राग था, पश्चात् अनित्यादि अवगुण अवलोककर उदासीन हुआ; परन्तु ऐसी उदासीनता तो द्वेषरूप है। अपना और शरीरादिक का जहाँ जैसा स्वभाव है वैसा पहिचानकर, भ्रम को मिटाकर, भला जानकर राग नहीं करना और बुरा जानकर द्वेष नहीं करना, ऐसी सच्ची उदासीनता के अर्थ यथार्थ अनित्यत्वादिक का चिंतवन करना ही सच्ची अनुप्रेक्षा है।

(5) **परीषहजय** : क्षुधादिक होने पर उनके नाश का उपाय नहीं करना; उसे परीषह सहना कहता है। सो उपाय तो नहीं किया और अंतरंग में क्षुधादि अनिष्ट सामग्री मिलने पर दुःखी हुआ, रति आदि का कारण मिलने पर सुखी हुआ, तो वे दुःख-सुखरूप परिणाम हैं, वही आर्तध्यान-रौद्रध्यान हैं। ऐसे भावों से संवर कैसे हो ? इसलिये दुःख का कारण मिलने पर दुःखी न हो और सुख का कारण मिलने पर सुखी न हो, ज्ञेयरूप से उनका जाननेवाला ही रहे, वही सच्चा परीषहजय है।

(6) **चारित्र** : हिंसादि सावद्ययोग के त्याग को चारित्र मानता है, वहाँ महाव्रतादिरूप शुभयोग को उपादेयपने से ग्राह्य मानता है; परन्तु तत्त्वार्थसूत्र में आस्रव पदार्थ का निरूपण करते हुए महाव्रत-अणुव्रत को भी आस्रवरूप कहा है। वे उपादेय कैसे हों ? तथा आस्रव तो बन्ध का साधक है और चारित्र मोक्ष का साधक है, इसलिये महाव्रतादिरूप आस्रवभावों को चारित्रपना संभव नहीं होता, सकल कषायरहित जो उदासीनभाव उसी का नाम चारित्र है।

प्रश्न : 31. निर्जरा तत्त्व संबंधी अन्यथा श्रद्धान का निरूपण कीजिये।

उत्तर : यह जीव अनशनादि तप से निर्जरा मानता है; परन्तु केवल बाह्य तप ही करने से तो निर्जरा होती नहीं है। बाह्य तप तो शुद्धोपयोग

बढाने के अर्थ करते हैं। शुद्धोपयोग निर्जरा का कारण है। इसलिये बाह्य प्रवृत्ति के अनुसार निर्जरा नहीं है, अंतरंग कषायशक्ति घटने से विशुद्धता होने पर निर्जरा होती है।

प्रश्न : 32. मोक्ष तत्त्व संबंधी अन्यथा श्रद्धान का निरूपण कीजिये।

उत्तर : अज्ञानी जीव सिद्ध होना, उसे मोक्ष मानता है। वहाँ जन्म-मरण-रोग-क्लेशादि दुःख दूर हुए, अनन्तज्ञान द्वारा लोकालोक का जानना हुआ, त्रिलोकपूज्यपना हुआ - इत्यादि रूप से उसकी महिमा जानता है। सो सर्व जीवों के दुःख दूर करने की, ज्ञेय जानने की तथा पूज्य होने की इच्छा है। यदि इन्हीं के अर्थ मोक्ष की इच्छा की तो इसके अन्य जीवों के श्रद्धान से क्या विशेषता हुई ?

तथा इसके ऐसे भी अभिप्राय है कि स्वर्ग में सुख है, उससे अनन्तगुणा सुख मोक्ष में है। सो इस गुणाकार में वह स्वर्ग-मोक्षसुख की एक जाति जानता है।

इन्द्रादिक के जो सुख है, वह कषायभावों से आकुलतारूप है, सो वह परमार्थ से दुःख ही है; इसलिये उसकी और इसकी एक जाति नहीं है। स्वर्गसुख का कारण प्रशस्तराग है और मोक्षसुख का कारण वीतरागभाव है, इसलिये कारण में भी विशेष है; परन्तु ऐसा भाव इसे भासित नहीं होता।

प्रश्न : 33. सम्यग्ज्ञान संबंधी अन्यथा श्रद्धान किसे कहते हैं?

उत्तर : शास्त्र में सम्यग्ज्ञान के अर्थ शास्त्राभ्यास करने से सम्यग्ज्ञान होना कहा है, इसलिये यह शास्त्राभ्यास में तत्पर रहता है। वहाँ सीखना, सिखाना, याद करना, बाँचना, पढना आदि क्रियाओं में तो उपयोग को रमाता है; परन्तु उसके प्रयोजन पर दृष्टि नहीं है। इस उपदेश में मुझे कार्यकारी क्या है, सो अभिप्राय नहीं है, स्वयं शास्त्राभ्यास करके औरों

को सम्बोधन देने का अभिप्राय रखता है और बहुत से जीव उपदेश मानें वहाँ सन्तुष्ट होता है। शास्त्रों का स्वाध्याय करता है; परन्तु उनका प्रयोजन नहीं विचारता।

तथा शास्त्राभ्यास में भी कितने ही तो व्याकरण, न्याय, काव्य आदि शास्त्रों का बहुत अभ्यास करते हैं; परन्तु वे तो लोक में पांडित्य प्रगट करने के कारण हैं, उनमें आत्महित का निरूपण तो है नहीं।

कितने ही जीव पुण्य-पापादिक फल के निरूपक पुराणादि शास्त्रों का; पुण्यपापक्रिया के निरूपक आचारादि शास्त्रों का; तथा गुणस्थान-मार्गणा, कर्मप्रकृति, त्रिलोकादि के निरूपक करणानुयोग के शास्त्रों का अभ्यास करते हैं; परन्तु यदि आप इनका प्रयोजन नहीं विचारते, तब तो तोते जैसा ही पढ़ना हुआ।

सो तत्त्वज्ञान के कारण अध्यात्मरूप द्रव्यानुयोग के शास्त्र हैं, और कितने ही जीव उन शास्त्रों का भी अभ्यास करते हैं; परन्तु वहाँ जैसा लिखा है वैसा निर्णय स्वयं करके आपको आपरूप, पर को पररूप और आस्रवादि का आस्रवादिरूप श्रद्धान नहीं करते।

प्रश्न : 34. सम्यक्चारित्र संबंधी अन्यथा श्रद्धान को स्पष्ट कीजिये।

उत्तर : बाह्य क्रिया पर तो इनकी दृष्टि है और परिणाम सुधरने-बिगड़ने का विचार नहीं है और यदि परिणामों का भी विचार हो तो जैसे अपने परिणाम होते दिखायी दें उन्हीं पर दृष्टि रहती है; परन्तु उन परिणामों की परम्परा का विचार करने पर अभिप्राय में जो वासना है उसका विचार नहीं करते। फल लगता है सो अभिप्राय में जो वासना है उसका लगता है।

कितने ही जीव तो कुलक्रम से अथवा देखादेखी या क्रोध, मान, माया, लोभादिक से आचरण करते हैं, उनके तो धर्मबुद्धि ही नहीं है,

सम्यक् चारित्र कहाँ से हो ? उन जीवों में कोई तो भोले हैं व कोई कषायी हैं, सो अज्ञानभाव व कषाय होने पर सम्यक् चारित्र नहीं होता।

कितने ही जीव ऐसा मानते हैं कि जानने में क्या है, कुछ करेंगे तो फल लगेगा – ऐसा विचारकर व्रत-तप आदि क्रिया ही के उद्यमी रहते हैं और तत्त्वज्ञान का उपाय नहीं करते। सो तत्त्वज्ञान के बिना महाव्रतादि का आचरण भी मिथ्याचारित्र ही नाम पाता है।

प्रश्न : 35. अज्ञानी व ज्ञानी की उदासीनता किस प्रकार की होती है ?

उत्तर : अज्ञानी की उदासीनता – स्त्री-पुत्रादि भोगसामग्री दुःखरूप हैं और देव-शास्त्रादि/व्रत-तपादि हितकारी हैं, इसप्रकार परद्रव्यों में किसी परद्रव्य को बुरा जान अनिष्ट रूप और किसी परद्रव्य को भला जान इष्ट रूप श्रद्धान करते हैं। परद्रव्य में इष्ट अनिष्ट श्रद्धान सो मिथ्या है। इसी श्रद्धान से अज्ञानी की उदासीनता भी द्वेष रूप होती है; क्योंकि किसी को बुरा जानना उसी का नाम द्वेष है।

ज्ञानी की उदासीनता – किसी भी द्रव्य का दोष या गुण भासित न हो, इसलिये किसी को भला-बुरा न जाने, स्व को स्व जाने, पर को पर जाने, पर से कुछ प्रयोजन मेरा नहीं है, ऐसा मानकर साक्षीभूत रहे, ऐसी उदासीनता ज्ञानी की होती है।

प्रश्न : 36. प्रशस्त राग ज्ञानी-अज्ञानी दोनों को ही होने पर भी दोनों के श्रद्धान में क्या भिन्नता है ? उदाहरण सहित स्पष्ट करें।

उत्तर : प्रशस्त राग के उपाय में और हर्ष में समानता होने पर भी सम्यग्दृष्टि के तो दण्ड समान और मिथ्यादृष्टि के व्यापार समान श्रद्धान पाया जाता है। इसलिये अभिप्राय में विशेष हुआ।

अज्ञानी परीषह-तपश्चरणादिक के निमित्त से दुःख हो उसका

इलाज तो नहीं करता; परन्तु दुःख का वेदन करता है, सो दुःख का वेदन करना कषाय ही है। जहाँ वीतरागता होती है वहाँ तो जैसे अन्य ज्ञेय को जानता है, उसी प्रकार दुःख के कारण ज्ञेय को जानता है।

प्रश्न : 37. उभयाभासी मिथ्यादृष्टि का स्वरूप बताइये।

उत्तर : जो जीव ऐसा मानते हैं कि जिनमत में निश्चय-व्यवहार दोनों नय कहे हैं, इसलिये हमें उन दोनों का अंगीकार करना चाहिये – ऐसा विचारकर निश्चयाभास के अवलम्बियों जैसा तो निश्चय का अंगीकार करते हैं एवं व्यवहाराभास के अवलम्बियों जैसा व्यवहार का अंगीकार करते हैं।

यद्यपि इसप्रकार अंगीकार करने में दोनों नयों के परस्पर विरोध है, तथापि करें क्या ? दोनों नयों का सच्चा स्वरूप भासित हुआ नहीं और जिनमत में दो नय कहे हैं, उनमें से किसी को छोड़ा भी नहीं जाता; इसलिये भ्रमसहित दोनों का साधन साधते हैं, वे जीव उभयाभासी मिथ्यादृष्टि जानना।

प्रश्न : 38. जिनमार्ग में दोनों नयों का ग्रहण करना कहा सो किस प्रकार?

उत्तर : जिनमार्ग में कहीं तो निश्चयनय की मुख्यता लिये व्याख्यान है, उसे तो 'सत्यार्थ ऐसे ही है' – ऐसा जानना तथा कहीं व्यवहारनय की मुख्यता लिये व्याख्यान है, उसे 'ऐसे है नहीं, निमित्तादि की अपेक्षा उपचार किया है' – ऐसा जानना। इसप्रकार जानने का नाम ही दोनों नयों का ग्रहण है।

प्रश्न : 39. यदि व्यवहार नय असत्यार्थ है तो उसका उपदेश जिनमार्ग में किसलिये दिया ?

उत्तर : ऐसा ही तर्क समयसार में किया है, वहाँ यह उत्तर दिया है –

जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणाउ गाहेउं ।

तह व्यवहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं ॥४॥

अर्थ - जिस प्रकार अनार्य अर्थात् म्लेच्छ को म्लेच्छ भाषा बिना अर्थ ग्रहण कराने में कोई समर्थ नहीं है, उसी प्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश अशक्य है; इसलिये व्यवहार का उपदेश है।

इसके अलावा जब तक निश्चय से प्ररूपित वस्तु को ना पहिचाने तब तक निचली दशा में अपने को भी व्यवहारनय कार्यकारी है।

प्रश्न : 40. व्यवहार बिना निश्चय का उपदेश कैसे नहीं होता?

उत्तर : निश्चय से आत्मा परद्रव्यों से भिन्न, स्वभावों से अभिन्न स्वयंसिद्ध वस्तु है; उसे जो नहीं पहिचानते, उनसे इसी प्रकार कहते रहें तब तो वे समझ नहीं पायें। इसलिये उनको व्यवहारनय से शरीरादिक परद्रव्यों की सापेक्षता द्वारा नर-नारक-पृथ्वीकायादिरूप जीव के विशेष किये - तब मनुष्य जीव है, नारकी जीव है, इत्यादि प्रकार सहित उन्हें जीव की पहिचान हुई।

अथवा अभेद वस्तु में भेद उत्पन्न करके ज्ञान-दर्शनादि गुण-पर्यायरूप जीव के विशेष किये, तब जाननेवाला जीव है, देखने वाला जीव है - इत्यादि प्रकार सहित उनको जीव की पहिचान हुई।

तथा निश्चय से वीतरागभाव मोक्षमार्ग है; उसे जो नहीं पहिचानते उनको ऐसे ही कहते रहें तो वे समझ नहीं पायें। तब उनको व्यवहारनय से, तत्त्वश्रद्धान-ज्ञानपूर्वक परद्रव्य के निमित्त मिटने की सापेक्षता द्वारा व्रत, शील, संयमादिरूप वीतरागभाव के विशेष बतलाये; तब उन्हें वीतरागभाव की पहिचान हुई।

प्रश्न : 41. सम्यक्त्व सन्मुख मिथ्यादृष्टि का प्रमुख लक्षण क्या है ?

उत्तर : कोई मन्दकषायादि का कारण पाकर ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षयोपशम हुआ, जिससे तत्त्वविचार करने की शक्ति हुई तथा मोह

मन्द हुआ, जिससे तत्त्वविचार में उद्यम हुआ और बाह्य निमित्त देव-गुरु-शास्त्रादिक का हुआ, उनसे सच्चे उपदेश का लाभ हुआ।

वहाँ अपने प्रयोजनभूत मोक्षमार्ग के, देव-गुरु-धर्मादिक के, जीवादि तत्त्वों के, निज-पर के और अपने को अहितकारी-हितकारी भावों के इत्यादिक उपदेश से सावधान होकर ऐसा विचार किया कि अहो ! मुझे तो इन बातों की खबर ही नहीं, मैं भ्रम से भूलकर प्राप्त पर्याय ही में तन्मय हुआ; परन्तु इस पर्याय की तो थोड़े ही काल की स्थिति है तथा यहाँ मुझे सर्व निमित्त मिले हैं, इसलिये मुझे इन बातों को बराबर समझना चाहिये; क्योंकि इनमें तो मेरा ही प्रयोजन भासित होता है। इसप्रकार सम्यक्त्व सन्मुख मिथ्यादृष्टि होता है।

प्रश्न : 42. जिनेन्द्र भगवान अन्यथावादी नहीं होते तो जैसा उनका उपदेश है, वैसा ही अंगीकार कर लें, परीक्षा क्यों करना ?

उत्तर : परीक्षा किये बिना यह तो मानना हो सकता है कि जिनदेव ने ऐसा कहा है सो सत्य है; परन्तु उनका भाव अपने को भासित नहीं होगा। भाव भासित हुए बिना निर्मल श्रद्धान नहीं होता; क्योंकि जिसकी किसी के वचन ही से प्रतीति की जाये, उसको अन्य के वचन से अन्यथा भी प्रतीति हो जाय; इसलिये शक्ति अपेक्षा वचन से की गई प्रतीति अप्रतीतिवत् है। तथा जिसका भाव भासित हुआ हो, उसे अनेक प्रकार से भी अन्यथा नहीं मानता, इसलिये भाव भासित होने पर जो प्रतीति होती है, वही सच्ची प्रतीति है।

प्रश्न : 43. उपदेश तो अनेक प्रकार के हैं, किस-किस की परीक्षा करें ?

उत्तर : उपदेश में कोई उपादेय, कोई हेय तथा कोई ज्ञेयतत्त्वों का निरूपण किया जाता है। वहाँ उपादेय-हेय तत्त्वों की तो परीक्षा कर

लेना; क्योंकि इनमें अन्यथापना होने से अपना बुरा होता है। उपादेय को हेय और हेय को उपादेय मान लें तो बुरा होगा।

प्रश्न : 44. लब्धि की परिभाषा लिखिये।

उत्तर : क्षयोपशम लब्धि – जिसके होने पर तत्त्वविचार हो सके – ऐसा ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षयोपशम हो, वह क्षयोपशम लब्धि है।

विशुद्ध लब्धि – मोह का मन्द उदय आने से मन्दकषायरूप भाव हों कि जहाँ तत्त्वविचार हो सके सो विशुद्ध लब्धि है।

देशना लब्धि – जिनदेव के उपदिष्ट तत्त्व का धारण हो, विचार हो, सो देशना लब्धि है। जहाँ नरकादि में उपदेश का निमित्त न हो वहाँ वह पूर्व संस्कारों से होती है।

प्रायोग्य लब्धि – कर्मों की पूर्वसत्ता अंतःकोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण रह जाये और नवीन बन्ध अंतःकोड़ाकोड़ी प्रमाण उसके संख्यातवें भाग मात्र हो, वह भी उस लब्धिकाल से लगाकर क्रमशः घटता जाये और कितनी ही पाप प्रकृतियों का बन्ध क्रमशः मिटता जाये – इत्यादि योग्य अवस्था का होना सो प्रायोग्य लब्धि है।

करण लब्धि – जिसके पश्चात् सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नियम से हो, जीव के ऐसे अधःकरणादि परिणामों की प्राप्ति करण लब्धि है।



आठवाँ अधिकार

प्रश्न : 1. चारों अनुयोगों की आठवें अधिकार के अनुसार परिभाषा दीजिये।

उत्तर : तीर्थंकर चक्रवर्ती आदि महान पुरुषों के चरित्र का जिसमें निरूपण किया हो वह प्रथमानुयोग है। गुणस्थानमार्गणादिरूप जीव का व कर्मों का व त्रिलोकादिक का जिसमें निरूपण हो वह करणानुयोग है। गृहस्थ-मुनि के धर्म आचरण करने का जिसमें निरूपण हो वह चरणानुयोग है तथा षट्द्रव्य, सप्ततत्त्वादिक का व स्व-पर भेदविज्ञानादिक का जिसमें निरूपण हो वह द्रव्यानुयोग है।

प्रश्न : 2. चारों अनुयोगों का प्रयोजन स्पष्ट कीजिये।

उत्तर : प्रथमानुयोग में तो संसार की विचित्रता, पुण्य-पाप का फल, महन्त पुरुषों की प्रवृत्ति इत्यादि निरूपण से जीवों को धर्म में लगाया है। करणानुयोग में जीवों के व कर्मों के विशेष तथा त्रिलोकादिक की रचना निरूपित करके जीवों को धर्म में लगाया है। चरणानुयोग में नानाप्रकार धर्म के साधन निरूपित करके जीवों को धर्म में लगाते हैं। द्रव्यानुयोग में द्रव्यों का व तत्त्वों का निरूपण करके जीवों को धर्म में लगाते हैं। इस प्रकार चारों अनुयोगों का प्रयोजन जीवों को धर्म में लगाना है।

प्रश्न : 3. प्रथमानुयोग अज्ञानी (अव्युत्पन्न मिथ्यादृष्टि) जीव को किस प्रकार प्रयोजनवान है ?

उत्तर : तुच्छबुद्धि जीव सूक्ष्म निरूपण को नहीं पहिचानते, लौकिक कथाओं को जानते हैं, वहाँ उनका उपयोग लगता है तथा प्रथमानुयोग में लौकिक प्रवृत्तिरूप ही निरूपण होने से उसे वे भली-भांति समझ जाते

हैं। वहाँ प्रयोजन तो जहाँ-तहाँ पाप को छोड़ाकर धर्म में लगाने का प्रगट करते हैं, इसलिये वे जीव कथाओं के लालच से तो उन्हें पढते-सुनते हैं और फिर पाप को बुरा, धर्म को भला जानकर धर्म में रुचिवंत होते हैं। इसप्रकार प्रथमानुयोग अज्ञानी जीवों को प्रयोजनवान है।

प्रश्न : 4. प्रथमानुयोग अज्ञानी जीवों को ही प्रयोजनवान है या तत्त्वज्ञानी जीवों के लिये भी - स्पष्ट करें।

उत्तर : जिन जीवों के तत्त्वज्ञान हुआ हो, पश्चात् इस प्रथमानुयोग को पढे-सुनें तो उन्हें यह उसके उदाहरणरूप भासित होता है। जैसे - जीव अनादिनिधन है, शरीरादिक संयोगी पदार्थ हैं, ऐसा यह जानता था। पुराणों में जीवों के भवान्तर निरूपित किये हैं, वे उस जानने के उदाहरण हुए। यहाँ उदाहरण का अर्थ यह है कि जिसप्रकार जानता था, उसी प्रकार वहाँ किसी जीव के अवस्था हुई, इसलिये यह उस जानने की साक्षी हुई। इसप्रकार प्रथमानुयोग ज्ञानी जीवों को भी प्रयोजनवान है।

प्रश्न : 5. करणानुयोग अज्ञानी जीवों को किसप्रकार प्रयोजनवान है ?

उत्तर : १. जो जीव धर्म में उपयोग लगाना चाहते हैं, वे जीवों के गुणस्थान-मार्गणा आदि विशेष तथा कर्मों के कारण-अवस्था-फल किस-किसके कैसे-कैसे पाये जाते हैं इत्यादि विशेष तथा त्रिलोक में नरक-स्वर्गादि के ठिकाने पहिचानकर पाप से विमुख होकर धर्म में लगते हैं।

२. ऐसे विचार में उपयोग रम जाये तब पाप-प्रवृत्ति छूटकर स्वयमेव तत्काल धर्म उत्पन्न होता है, उस अभ्यास से तत्त्वज्ञान की भी प्राप्ति शीघ्र होती है।

३. तथा ऐसा सूक्ष्म यथार्थ कथन जिनमत में ही है, अन्यत्र नहीं है; इसप्रकार महिमा जानकर जिनमत का श्रद्धानी होता है। इसप्रकार करणानुयोग अज्ञानी जीवों को प्रयोजनवान है।

प्रश्न : 6. करणानुयोग तत्त्वज्ञानी जीवों को किसप्रकार प्रयोजनवान है?

उत्तर : जो जीव तत्त्वज्ञानी होकर इस करणानुयोग का अभ्यास करते हैं, उन्हें यह तत्त्वज्ञान के विशेषणरूप भासित होता है। इस अभ्यास से तत्त्वज्ञान निर्मल होता है तथा अन्य ठिकाने उपयोग को लगाये तो रागादिक की वृद्धि होती है और छद्मस्थ का उपयोग निरन्तर एकाग्र नहीं रहता, इसलिये ज्ञानी करणानुयोग के अभ्यास में उपयोग को लगाता है। इसप्रकार करणानुयोग तत्त्वज्ञानी जीवों को प्रयोजनवान है।

प्रश्न : 7. चरणानुयोग अज्ञानी जीवों को किसप्रकार प्रयोजनवान है ?

उत्तर : जो जीव हित-अहित को नहीं जानते, हिंसादिक पाप कार्यों में ही तत्पर रहते हैं, उन्हें जिसप्रकार पाप कार्यों को छोड़कर धर्मकार्यों में लगे, उस प्रकार उपदेश दिया है, उसे जानकर जो धर्म आचरण करने को सन्मुख हुए, वे जीव गृहस्थधर्म व मुनिधर्म का विधान सुनकर आपसे जैसा सधे वैसे धर्म-साधन में लगते हैं। इसप्रकार चरणानुयोग अज्ञानी जीवों को प्रयोजनवान है।

ऐसे साधन से कषाय मन्द होती है तथा जिनमत का निमित्त बना रहता है, वहाँ तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होना हो तो हो जाती है।

प्रश्न : 8. चरणानुयोग तत्त्वज्ञानी जीवों को किसप्रकार प्रयोजनवान है?

उत्तर : जो जीव तत्त्वज्ञानी होकर चरणानुयोग का अभ्यास करते हैं, उन्हें यह सर्व आचरण अपने वीतरागभाव के अनुसार भासित होते हैं। एकदेश व सर्वदेश वीतरागता होने पर ऐसी श्रावकदशा-मुनिदशा होती है; क्योंकि इनके निमित्त-नैमित्तिकपना पाया जाता है। ऐसा जानकर श्रावक-मुनिधर्म के विशेष पहिचानकर जैसा अपना वीतरागभाव हुआ हो वैसा अपने योग्य धर्म को साधते हैं। वहाँ जितने अंश में वीतरागता होती है, उसे कार्यकारी जानते हैं, जितने अंश में राग रहता है, उसे हेय जानते हैं, सम्पूर्ण वीतरागता को परम धर्म मानते हैं। इसप्रकार तत्त्वज्ञानी जीवों को चरणानुयोग प्रयोजनवान होता है।

प्रश्न : 9. द्रव्यानुयोग अज्ञानी जीवों को किसप्रकार प्रयोजनवान है ?

उत्तर : जो जीव जीवादिक द्रव्यों को व तत्त्वों को नहीं पहिचानते, आपको-परको भिन्न नहीं जानते, उन्हें हेतु-दृष्टांत-युक्ति द्वारा व प्रमाण-नयादि द्वारा उनका स्वरूप इसप्रकार दिखाया है, जिससे उनको प्रतीति हो जाये। उसके अभ्यास से अनादि अज्ञानता दूर होती है। अन्यमत कल्पित तत्त्वादिक झूठ भासित हों तब जिनमत की प्रतीति हो और उनके भाव को पहिचानने का अभ्यास रखें, तो शीघ्र ही तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो जाये। इसप्रकार द्रव्यानुयोग अज्ञानी जीवों को प्रयोजनवान है।

प्रश्न : 10. द्रव्यानुयोग तत्त्वज्ञानी जीवों को किसप्रकार प्रयोजनवान है ?

उत्तर : जिनके तत्त्वज्ञान हुआ हो वे जीव द्रव्यानुयोग का अभ्यास करें तो उन्हें अपने श्रद्धान के अनुसार वह सर्व कथन प्रतिभासित होते हैं। जैसे - किसी ने कोई विद्या सीख ली; परन्तु यदि उसका अभ्यास करता रहे तो वह याद रहती है, न करे तो भूल जाता है। इसप्रकार इसको तत्त्वज्ञान हुआ; परन्तु यदि उसके प्रतिपादक द्रव्यानुयोग का

अभ्यास करता रहे तो वह तत्त्वज्ञान रहता है, न करे तो भूल जाता है अथवा संक्षेपरूप से तत्त्वज्ञान हुआ था, वह नाना युक्ति-हेतु-दृष्टांतादि द्वारा स्पष्ट हो जाये तो उसमें शिथिलता नहीं हो सकती। इस अभ्यास से रागादि घटने से शीघ्र मोक्ष सधता है। इसप्रकार ज्ञानी जीवों को द्रव्यानुयोग प्रयोजनवान है।

प्रश्न : 11. प्रथमानुयोग के व्याख्यान विधान के बिन्दु मात्र लिखिये।

उत्तर : (1) प्रथमानुयोग में जो मूल कथाएं हैं, वे तो जैसी हैं, वैसी ही निरूपित करते हैं। उनमें प्रसंगोपात्त व्याख्यान होता है, वह कोई तो ज्यों का त्यों होता है, कोई ग्रन्थकर्ता के विचारानुसार होता है; परन्तु प्रयोजन अन्यथा नहीं होता।

(2) प्रथमानुयोग में जिसकी मुख्यता हो उसी का पोषण करते हैं। जैसे - किसी ने उपवास किया, उसका तो फल अल्प था; परन्तु उसे अन्य धर्म परिणति की विशेषता हुई, इसलिये विशेष उच्चपद की प्राप्ति हुई, वहाँ उसको उपवास ही का फल निरूपित करते हैं।

(3) प्रथमानुयोग में उपचाररूप किसी धर्म का अंग होने पर सम्पूर्ण धर्म हुआ कहते हैं। जैसे - जिन जीवों के शंका-कांक्षादिक नहीं हुए, उनको सम्यक्त्व हुआ कहते हैं।

(4) प्रथमानुयोग में कोई धर्मबुद्धि से अनुचित कार्य करे उसकी भी प्रशंसा करते हैं। जैसे-विष्णुकुमार ने मुनियों का उपसर्ग दूर किया सो धर्मानुराग से किया; परन्तु मुनिपद छोड़कर यह कार्य करना योग्य नहीं था; क्योंकि ऐसा कार्य तो गृहस्थधर्म में संभव है और गृहस्थधर्म से मुनिधर्म ऊँचा है; सो ऊँचा धर्म छोड़कर नीचा धर्म अंगीकार किया वह अयोग्य है; परन्तु वात्सल्य अंग की प्रधानता से विष्णुकुमारजी की प्रशंसा की है।

इस छल से औरों को ऊँचा धर्म छोड़कर नीचा धर्म अंगीकार करना योग्य नहीं है।

प्रश्न : 12. करणानुयोग के व्याख्यान विधान के बिन्दु मात्र लिखिये।

उत्तर : (1) जैसा केवलज्ञान द्वारा जाना वैसा छद्मस्थ के ज्ञानगोचर करणानुयोग में व्याख्यान है।

(2) यद्यपि वस्तु के क्षेत्र, काल, भावादिक अखंडित हैं; तथापि करणानुयोग में छद्मस्थ को हीनाधिक ज्ञान होने के अर्थ प्रदेश, समय, अविभाग-प्रतिच्छेदादिक की कल्पना करके उनका प्रमाण निरूपित करते हैं।

(3) करणानुयोग में जो कथन हैं वे कितने ही तो छद्मस्थ के प्रत्यक्ष-अनुमानादिगोचर होते हैं तथा जो न हों उन्हें आज्ञाप्रमाण द्वारा मानना।

(4) करणानुयोग में छद्मस्थों की प्रवृत्ति के अनुसार वर्णन नहीं किया है, केवलज्ञानगम्य पदार्थों का निरूपण है।

(5) करणानुयोग में भी कहीं उपदेश की मुख्यता सहित व्याख्यान होता है, उसे सर्वथा उसी प्रकार नहीं मानना।

प्रश्न : 13. चरणानुयोग में कितने प्रकार से उपदेश है ?

उत्तर : चरणानुयोग में छद्मस्थ के बुद्धिगोचर धर्म का आचरण जैसे हो सके वैसा व्यवहारनय की प्रधानता से उपदेश देते हैं, वह दो प्रकार से निम्नानुसार है -

(1) व्यवहार ही का उपदेश और (2) निश्चय सहित व्यवहार का उपदेश।

जिन जीवों के निश्चय का ज्ञान नहीं है व उपदेश देने पर भी ज्ञान नहीं होता दिखायी देता ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव को कुछ धर्मसन्मुख होने

पर उन्हें व्यवहार ही का उपदेश देते हैं।

जिन जीवों को निश्चय-व्यवहार का ज्ञान है व उपदेश देने पर उनका ज्ञान होता दिखायी देता है - ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव व सम्यक्त्वसन्मुख मिथ्यादृष्टि जीव को निश्चय सहित व्यवहार का उपदेश देते हैं। व्यवहार उपदेश में तो बाह्य क्रियाओं की ही प्रधानता है, उनके उपदेश से जीव पापक्रिया छोड़कर पुण्यक्रियाओं में प्रवर्तता है और निश्चय सहित व्यवहार के उपदेश में परिणामों की ही प्रधानता है।

प्रश्न : 14. चरणानुयोग के व्याख्यान विधान के बिन्दु मात्र लिखिये।

उत्तर : (1) चरणानुयोग में तीव्र कषायों का कार्य छोड़ाकर मंदकषायरूप कार्य करने का उपदेश देते हैं। यद्यपि कषाय करना बुरा ही है, तथापि सर्व कषाय न छूटते जानकर जितनी कषाय घटें उतना ही भला होगा - ऐसा प्रयोजन वहाँ जानना।

(2) चरणानुयोग में कषायी जीवों को कषाय उत्पन्न करके भी पाप को छोड़ते हैं और धर्म में लगाते हैं। जैसे - पाप का फल नरकादि के दुःख दिखाकर उनको भय कषाय उत्पन्न करके पापकार्य छोड़वाते हैं।

(3) चरणानुयोग में छद्मस्थ की बुद्धिगोचर स्थूलपने की अपेक्षा से लोकप्रवृत्ति की मुख्यता सहित उपदेश देते हैं।

प्रश्न : 15. द्रव्यानुयोग के व्याख्यान विधान के बिन्दु मात्र लिखिये।

उत्तर : (1) जीवों के जीवादि द्रव्यों का यथार्थ श्रद्धान जिसप्रकार हो उस प्रकार विशेष, युक्ति, हेतु, दृष्टान्तादिक का यहाँ निरूपण करते हैं।

(2) द्रव्यानुयोग में निश्चय अध्यात्म-उपदेश की प्रधानता हो, वहाँ व्यवहारधर्म का भी निषेध करते हैं।

(3) द्रव्यानुयोग में भी चरणानुयोगवत् ग्रहण-त्याग कराने का

प्रयोजन है, इसलिये छद्मस्थ के बुद्धिगोचर परिणामों की अपेक्षा ही वहाँ कथन करते हैं। इतना विशेष है कि चरणानुयोग में तो बाह्यक्रिया की मुख्यता से वर्णन करते हैं, द्रव्यानुयोग में आत्मपरिणामों की मुख्यता से निरूपण करते हैं।

प्रश्न : 16. अनुयोगों की व्याख्यान पद्धति बताइये।

उत्तर : प्रथमानुयोग में तो अलंकार शास्त्र की व काव्यादि शास्त्रों की पद्धति मुख्य है; करणानुयोग में गणित आदि शास्त्रों की पद्धति मुख्य है; चरणानुयोग में सुभाषित नीतिशास्त्रों की पद्धति मुख्य है; द्रव्यानुयोग में न्यायशास्त्रों की पद्धति मुख्य है।

प्रश्न : 17. व्याकरण न्याय शास्त्रादि भी जिनमत में पाये जाते हैं, उनका अध्ययन करना या नहीं ?

उत्तर : व्याकरण, न्याय शास्त्रों का अभ्यास होने पर अनुयोग रूप शास्त्रों का अभ्यास अच्छी तरह से हो सकता है; अतः इनका भी अपनी बुद्धि के अनुसार थोड़ा-बहुत अभ्यास योग्य है।

यहाँ इतना है कि ये भी जैनशास्त्र हैं - ऐसा जानकर इनके अभ्यास में बहुत नहीं लगना। यदि बहुत बुद्धि से इनका सहज जानना हो और इनको जानने से अपने रागादिक विकार बढते न जाने, तो इनका भी जानना होओ। अनुयोगशास्त्रवत् ये शास्त्र बहुत कार्यकारी नहीं हैं, इसलिये इनके अभ्यास का विशेष उद्यम करना योग्य नहीं है।

प्रश्न : 18. प्रथमानुयोग में दोष कल्पना के प्रमुख बिन्दु उनके निराकरण सहित दीजिये।

उत्तर : शंका - प्रथमानुयोग में शृंगारादिक व संग्रामादिक का बहुत कथन करते हैं, उनके निमित्त से रागादिक बढ जाते हैं, इसलिये ऐसा कथन नहीं करना व ऐसा कथन नहीं सुनना।

समाधान - सरागी जीवों का मन केवल वैराग्यकथन में नहीं लगता। इसलिये जिसप्रकार बालक को बताशे के आश्रय से औषधि देते हैं, उसी प्रकार सरागी को भोगादि कथन के आश्रय से धर्म में रुचि कराते हैं।

शंका - प्रथमानुयोग में अन्य जीवों की कहानियाँ हैं, उनसे अपना क्या प्रयोजन सधता है ?

समाधान - जैसे कामी पुरुषों की कथा सुनने पर अपने को भी काम का प्रेम बढता है, उसी प्रकार धर्मात्मा पुरुषों की कथा सुनने पर अपने को धर्म की प्रीति विशेष होती है। इसलिये प्रथमानुयोग का अभ्यास करना योग्य है।

प्रश्न : 19. करणानुयोग में दोष कल्पना के प्रमुख बिन्दु उनके निराकरण सहित दीजिये।

उत्तर : शंका - करणानुयोग में गुणस्थान, मार्गणादिक का व कर्मप्रकृतियों का कथन किया व त्रिलोकादिक का कथन किया; सो उन्हें जान लिया कि 'यह इसप्रकार है', 'यह इसप्रकार है' इसमें अपना कार्य क्या सिद्ध हुआ ? या तो भक्ति करें या व्रत-दानादि करें या आत्मानुभवन करें - इससे अपना भला हो।

समाधान - परमेश्वर तो वीतराग हैं, भक्ति करने से प्रसन्न होकर कुछ करते नहीं हैं। भक्ति करने से कषाय मन्द होती है, उसका स्वयमेव उत्तम फल होता है। सो करणानुयोग के अभ्यास में उससे भी अधिक मन्द कषाय हो सकती है, इसलिये इसका फल अति उत्तम होता है। तथा व्रत-दानादिक तो कषाय घटाने के बाह्यनिमित्त के साधन हैं और करणानुयोग का अभ्यास करने पर वहाँ उपयोग लग जाये तब रागादिक दूर होते हैं सो यह अंतरंगनिमित्त का साधन है, इसलिये यह विशेष कार्यकारी है।

शंका – करणानुयोग में कठिनता बहुत है, इसलिये उसके अभ्यास में खेद होता है।

समाधान – यदि वस्तु शीघ्र जानने में आये तो वहाँ उपयोग उलझता नहीं है तथा जानी हुई वस्तु को बारम्बार जानने का उत्साह नहीं होता तब पाप कार्यों में उपयोग लग जाता है; इसलिये अपनी बुद्धि अनुसार कठिनता से भी जिसका अभ्यास होता जाने उसका अभ्यास करना।

प्रश्न : 20. चरणानुयोग में दोष कल्पना के प्रमुख बिन्दु उनके निराकरण सहित दीजिये।

उत्तर : शंका – चरणानुयोग में बाह्य व्रतादि साधन का उपदेश है, सो इनसे कुछ सिद्धि नहीं है; अपने परिणाम निर्मल होना चाहिये, बाह्य में चाहे जैसे प्रवर्तों।

समाधान – आत्मपरिणामों के और बाह्यप्रवृत्ति के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है; क्योंकि छद्मस्थ के क्रियाएँ परिणामपूर्वक होती हैं, कदाचित् बिना परिणाम कोई क्रिया होती है, सो परवशता से होती है। अपने वश से उद्यमपूर्वक कार्य करें और कहें कि 'परिणाम इस रूप नहीं है', सो यह भ्रम है। अथवा बाह्य पदार्थ का आश्रय पाकर परिणाम हो सकते हैं; इसलिये परिणाम मिटाने के अर्थ बाह्य वस्तु का निषेध करना समयसारादि में कहा है।

यदि बाह्य संयम से कुछ सिद्धि न हो तो सर्वार्थसिद्धिवासी देव सम्यग्दृष्टि बहुत ज्ञानी हैं, उनके तो चौथा गुणस्थान होता है और गृहस्थ श्रावक मनुष्यों के पंचम गुणस्थान होता है, सो क्या कारण है ? तथा तीर्थकरादिक गृहस्थपद छोड़कर किसलिये संयम ग्रहण करें ? इसलिये यह नियम है कि बाह्य संयम-साधन बिना परिणाम निर्मल नहीं हो सकते, इसलिये बाह्य साधन का विधान जानने के लिये चरणानुयोग का अभ्यास अवश्य करना चाहिये।

प्रश्न : 21. द्रव्यानुयोग में दोष कल्पना के प्रमुख बिन्दु उनके निराकरण सहित दीजिये।

उत्तर : शंका – द्रव्यानुयोग में व्रत-संयमादि व्यवहारधर्म का हीनपना प्रगट किया है। सम्यग्दृष्टि के विषय-भोगादिक को निर्जरा का कारण कहा है इत्यादि कथन सुनकर जीव स्वच्छन्द होकर पुण्य छोड़कर पाप में प्रवर्तेंगे, इसलिये इनका पढना-सुनना योग्य नहीं है।

समाधान – जैसे गधा मिश्री खाकर मर जाये तो मनुष्य तो मिश्री खाना नहीं छोड़ेंगे, उसी प्रकार विपरीतबुद्धि अध्यात्मग्रन्थ सुनकर स्वच्छन्द हो जायें तो विवेकी तो अध्यात्मग्रन्थों का अभ्यास नहीं छोड़ेंगे।

तथा अध्यात्म ग्रन्थों में भी स्वच्छन्द होने का जहाँ-तहाँ निषेध करते हैं, इसलिये जो भलीभांति उनको सुने वह तो स्वच्छन्द होता नहीं। यदि झूठे दोष की कल्पना करके अध्यात्मशास्त्रों को पढने-सुनने का निषेध करें तो मोक्षमार्ग का मूल उपदेश तो वहाँ है, उसका निषेध करने से तो मोक्षमार्ग का निषेध होता है। जैसे मेघवर्षा होने पर बहुत से जीवों का कल्याण होता है और किसी को उल्टा नुकसान हो तो उसकी मुख्यता करके मेघ का तो निषेध नहीं करना, उसी प्रकार सभा में अध्यात्म उपदेश होने पर बहुत से जीवों को मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है; परन्तु कोई उल्टा पाप में प्रवर्ते तो उसकी मुख्यता करके अध्यात्मशास्त्रों का तो निषेध नहीं करना।

अध्यात्म उपदेश न होने पर बहुत जीवों के मोक्षमार्ग की प्राप्ति का अभाव होता है और इसमें बहुत जीवों का बहुत बुरा होता है; इसलिये अध्यात्म-उपदेश का निषेध नहीं करना।

शंका – द्रव्यानुयोगरूप अध्यात्म-उपदेश है वह उत्कृष्ट है, सो उच्चदशा को प्राप्त हो उनको कार्यकारी है, निचली दशावालों को व्रत-संयमादिक का ही उपदेश देना योग्य है।

समाधान – जिनमत में यह परिपाटी है कि पहले सम्यक्त्व होता है फिर व्रत होते हैं; वह सम्यक्त्व स्व-पर का श्रद्धान होने पर होता है और वह श्रद्धान द्रव्यानुयोग का अभ्यास करने पर होता है, इसलिये प्रथम द्रव्यानुयोग के अनुसार श्रद्धान करके सम्यग्दृष्टि हो, पश्चात् चरणानुयोग के अनुसार व्रतादिक धारण करके व्रती हो। इसप्रकार मुख्यरूप से तो निचली दशा में ही द्रव्यानुयोग कार्यकारी है।

शंका – ऊँचे उपदेश का स्वरूप निचली दशावालों को भासित नहीं होता।

समाधान – और तो अनेक प्रकार की चतुराई जानें और यहाँ मूर्खपना प्रकट करे, वह योग्य नहीं है। अभ्यास करने से स्वरूप भलीभांति भासित होता है, अपनी बुद्धि अनुसार थोड़ा-बहुत भासित हो; परन्तु सर्वथा निरुद्यमी होने का पोषण करें वह तो जिनमार्ग का द्वेषी होना है।

शंका – यह काल निकृष्ट है, इसलिये उत्कृष्ट अध्यात्म-उपदेश की मुख्यता नहीं करना।

समाधान – यह काल साक्षात् मोक्ष न होने की अपेक्षा निकृष्ट है, आत्मानुभवनादिक द्वारा सम्यक्त्वादिक होना इस काल में मना नहीं है; इसलिये आत्मानुभवनादिक के अर्थ द्रव्यानुयोग का अवश्य अभ्यास करना।

प्रश्न : 22. चारों अनुयोगों में दिखाई देने वाले परस्पर विरोध का निराकरण कीजिये।

उत्तर : प्रथमादि अनुयोगों की आमनाय के अनुसार जहाँ जिसप्रकार कथन किया हो, वहाँ उसप्रकार जान लेना, अन्य अनुयोग के कथन को अन्य अनुयोग के कथन से अन्यथा जानकर सन्देह नहीं करना।

व्याख्यान जिस अपेक्षा सहित किये हों, उस अपेक्षा से उनका अर्थ

समझना। तथा जो उपदेश हो, उसे यथार्थ पहिचानकर जो अपने योग्य उपदेश हो उसे अंगीकार करना। जैसे वैद्यक शास्त्रों में अनेक औषधियाँ कही हैं, उनको जाने; परन्तु ग्रहण उन्हीं का करे जिनसे अपना रोग दूर हो। उसी प्रकार जैन शास्त्र में अनेक उपदेश हैं, उन्हें जाने; परन्तु ग्रहण उसी का करे जिनसे अपना विकार दूर हो। अपने को जो विकार हो उसका निषेध करने वाले उपदेश को ग्रहण करे, उसके पोषक उपदेश को ग्रहण न करे; यह उपदेश औरों को कार्यकारी है, ऐसा जाने।

उपदेश के अर्थ को जानकर वहाँ इतना विचार करना कि यह उपदेश किस प्रकार है, किस प्रयोजन सहित है, किस जीव को कार्यकारी है ? इत्यादि विचार करके उसका यथार्थ अर्थ ग्रहण करे। पश्चात् अपनी दशा देखे। जो उपदेश जिसप्रकार अपने को कार्यकारी हो उसे उसी प्रकार आप अंगीकार करे और जो उपदेश जानने योग्य ही हो तो उसे यथार्थ जान ले। इसप्रकार उपदेश के फल को प्राप्त करे।

शंका – जो तुच्छबुद्धि इतना विचार न कर सके वह क्या करे ?

समाधान – जैसे व्यापारी अपनी बुद्धि के अनुसार जिसमें समझे सो थोड़ा या बहुत व्यापार करे; परन्तु नफा-नुकसान का ज्ञान तो अवश्य होना चाहिये। उसी प्रकार विवेकी अपनी बुद्धि के अनुसार जिसमें समझे सो थोड़े या बहुत उपदेश को ग्रहण करे; परन्तु मुझे यह कार्यकारी है, यह कार्यकारी नहीं है – इतना तो ज्ञान अवश्य होना चाहिये। सो कार्य तो इतना है कि यथार्थ श्रद्धान-ज्ञान करके रागादि घटाना। सो अपना यह कार्य जिस प्रकार सिद्ध हो उसी उपदेश का प्रयोजन ग्रहण करे, विशेष ज्ञान न हो तो प्रयोजन को तो नहीं भूले, इतनी तो सावधानी अवश्य होना चाहिये। जिसमें अपने हित की हानि हो, उसप्रकार उपदेश का अर्थ समझना योग्य नहीं है।

प्रश्न : 23. एक ही शास्त्र में परस्पर विरोध भासित हो तो क्या करें?

उत्तर : करणानुयोग में जो कथन है वह तो तारतम्य सहित है और अन्य अनुयोग में कथन प्रयोजनानुसार है, इसलिये करणानुयोग का कथन तो जिसप्रकार किया है उसी प्रकार है, औरों के कथन की जैसे विधि मिले वैसे मिला लेना।

शंका – परन्तु ऐसी विधि भी कहीं मिलती न दिखे, एक ही कथन परस्पर विरोधी दिखाई दे तो क्या करें ?

समाधान – जहाँ विरोध भासित हो वहाँ इतना करना कि यह कथन करनेवाले बहुत प्रामाणिक हैं या यह कथन करनेवाले बहुत प्रामाणिक हैं; ऐसे विचार करके बड़े आचार्यादिकों का कहा हुआ कथन प्रमाण करना। जिनमत के बहुत शास्त्र हैं, उनकी आमनाय मिलाना। जो कथन परम्परा आमनाय से मिलें उस कथन को प्रमाण करना। इसप्रकार विचार करने पर भी सत्य-असत्य का निर्णय न हो सके तो 'जैसे केवली को भासित हुए हैं वैसे प्रमाण हैं' ऐसा मान लेना; क्योंकि देवादिक का व तत्त्वों का निर्धारण हुए बिना तो मोक्षमार्ग होता नहीं है। उसका तो निर्धारण भी हो सकता है, इसलिये कोई उनका स्वरूप विरुद्ध कहे तो आपही को भासित हो जायेगा तथा अन्य कथन का निर्धारण न हो या संशयादि रहें या अन्यथा भी जानपना हो जाये और केवली का कहा प्रमाण है – ऐसा श्रद्धान रहे तो मोक्षमार्ग में विघ्न नहीं है, ऐसा जानना।

प्रश्न : 24. अनुयोगों का अभ्यास क्रम क्या है ?

उत्तर : पहले इसका अभ्यास करना, फिर इसका करना – ऐसा नियम नहीं है; परन्तु अपने परिणामों की अवस्था देखकर जिसके अभ्यास से अपनी धर्म में प्रवृत्ति हो उसी का अभ्यास करना। ●

नौवाँ अधिकार

प्रश्न : 1. 'आत्मा का हित मोक्ष है' कथन को सिद्ध कीजिये।

उत्तर : संसार में सभी प्राणी (आत्मा) सुख हो, दुःख न हो – ऐसा स्वाभाविक रूप से चाहते हैं और प्रत्येक प्राणी सारे प्रयत्न इसी प्रकार के करता है कि उसे सुख हो दुःख ना हो। कदाचित् परवशता से दुःख हो तो उसे भोगता है; परन्तु स्ववशता से कोई भी किंचित् भी दुःख सहना नहीं चाहता।

दुख का मूल कारण संसार में प्राणी को विषयों की भोगने की इच्छा अपार है, भोग सामग्री ना के बराबर है, उसमें भी भोग पाता/सकता नहीं; अतः दुखी रहता है। इसके विपरीत मोक्ष में इच्छा का अभाव हो गया है, और सामर्थ्य भरपूर प्रगट हो गयी है। अतः दुख के कारणों का अभाव होने से मोक्ष सुख रूप है।

सुख का सच्चा लक्षण निराकुलता है और निराकुलतारूप सुख मोक्ष में है, अतः आत्मा का हित मोक्ष है।

प्रश्न : 2. संसार दशा में भी पुण्य के उदय होने पर सुख देखा जाता है, इसलिये केवल मोक्ष में ही सुख है – ऐसा क्यों कहते हो ?

उत्तर : पुण्य के उदय से संसार में किसी को कभी जो सुख देखा/कहा जाता है, वह असाताजन्य तीव्र आकुलता कम हो जाने से कहा है। जैसे किसी को 105 डिग्री बुखार हो, फिर वह 100 डिग्री रह जाये तो वह अपने को अच्छा हो गया ऐसा महसूस करता है; परन्तु परमार्थ से तो उसे अभी बुखार ही है।

दूसरी बात यह है कि पुण्य के उदयरूप सुख भी जिसे है, वह सुख उसे स्थिर/सदाकाल नहीं रहता; क्योंकि यह पुण्य-पाप के उदयाधीन है।

तीसरी बात यह है कि आकुलता का घटना-बढ़ना कषायभावों के अनुसार होता है। बाह्य सामग्री के अनुसार नहीं और यह आकुलता मिटाने के लिए बाह्य सामग्री के ग्रहण त्याग का उद्यम करता है। कषाय भावों को नहीं पहचानता, इसलिये संसार में आकुलता मिटाने की आकुलता निरंतर बनी रहती है; अतः संसार में किसी भी अपेक्षा सुख नहीं - ऐसा कहा गया है।

प्रश्न : मोक्ष का उपाय काललब्धि आने पर भवितव्य अनुसार बनता है या मोहादि के उपशमादि होने पर बनता है या अपने पुरुषार्थ से उद्यम करने पर बनता है ?

उत्तर : एक कार्य होने में अनेक कारण मिलते हैं। सो मोक्ष का उपाय बनता है वहाँ तो पूर्वोक्त तीनों ही कारण मिलते हैं और नहीं बनता वहाँ तीनों ही कारण नहीं मिलते। पूर्वोक्त तीन कारण कहे उनमें काललब्धि व होनहार तो कोई वस्तु नहीं है, जिस काल में कार्य बनता है, वही काललब्धि और जो कार्य हुआ वही होनहार। जो कर्म के उपशमादिक हैं वह पुद्गल की शक्ति है उसका आत्मा कर्ता-हर्ता नहीं है। पुरुषार्थ से उद्यम करते हैं सो यह आत्मा का कार्य है, इसलिये आत्मा को पुरुषार्थ से उद्यम करने का उपदेश देते हैं।

इसलिये जो जीव पुरुषार्थ से जिनेश्वर के उपदेशानुसार मोक्ष का उपाय करता है, उसके काललब्धि व होनहार भी हुये और कर्म के उपशमादि हुए हैं तो वह ऐसा उपाय करता है। इसलिये जो पुरुषार्थ से मोक्ष का उपाय करता है, उसको सर्व कारण मिलते हैं और उसको अवश्य मोक्ष की प्राप्ति होती है।

प्रश्न : 3. द्रव्यलिंगी मुनि मोक्ष के अर्थ गृहस्थपना छोड़कर तपश्चरणादि करता है, वहाँ पुरुषार्थ तो किया, कार्य सिद्ध नहीं हुआ, इसलिये पुरुषार्थ करने से तो कुछ सिद्धि नहीं है ?

उत्तर : अन्यथा पुरुषार्थ से फल चाहे तो कैसे सिद्धि हो ? तपश्चरणादि व्यवहार साधन में अनुरागी होकर प्रवर्ते उसका फल शास्त्र में तो शुभवन्ध कहा है और यह उससे मोक्ष चाहता है, कैसे होगा? यह तो भ्रम है।

प्रश्न : 4. भ्रम का भी तो कारण कर्म ही है, पुरुषार्थ क्या करे ?

उत्तर : सच्चे उपदेश से निर्णय करने पर भ्रम दूर होता है; परन्तु ऐसा पुरुषार्थ नहीं करता, इसी से भ्रम रहता है। निर्णय करने का पुरुषार्थ करे तो भ्रम का कारण जो मोहकर्म, उसके भी उपशमादि हों तब भ्रम दूर हो जाये; क्योंकि निर्णय करते हुए परिणामों की विशुद्धता होती है, उससे मोह के स्थिति-अनुभाग घटते हैं।

प्रश्न : 5. निर्णय करने में उपयोग नहीं लगाता, उसका भी तो कारण कर्म है ?

उत्तर : एकेन्द्रियादिक के विचार करने की शक्ति नहीं है, उनके तो कर्म ही का कारण है। इसके तो ज्ञानावरणादिक के क्षयोपशम से निर्णय करने की शक्ति हुई है, जहाँ उपयोग लगाये उसी का निर्णय हो सकता है। परन्तु यह अन्य निर्णय करने में उपयोग लगाता है, यहाँ उपयोग नहीं लगाता। सो यह तो इसी का दोष है, कर्म का तो कुछ प्रयोजन नहीं है।

प्रश्न : 6. सम्यक्त्व-चारित्र का घातक मोह है, उसका अभाव हुए बिना मोक्ष का उपाय कैसे बने ?

उत्तर : तत्त्वनिर्णय करने में उपयोग न लगाये वह तो इसी का दोष है। तथा पुरुषार्थ से तत्त्वनिर्णय में उपयोग लगाये तब स्वयमेव ही मोह

का अभाव होने पर सम्यक्त्वादिरूप मोक्ष के उपाय का पुरुषार्थ बनता है। इसलिये मुख्यता से तो तत्त्वनिर्णय में उपयोग लगाने का पुरुषार्थ करना तथा उपदेश भी देते हैं, सो यही पुरुषार्थ कराने के अर्थ दिया जाता है, तथा इस पुरुषार्थ से मोक्ष के उपाय का पुरुषार्थ अपने आप सिद्ध होगा।

प्रश्न : 7. मोक्षमार्ग का स्वरूप बताइये।

उत्तर : सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का एकीभाव ही मोक्षमार्ग है।

प्रश्न : 8. सम्यग्दर्शन का सच्चा लक्षण बताइये।

उत्तर : विपरीताभिनिवेशरहित जीवादिकतत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन का लक्षण है। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष - ये सात तत्त्वार्थ हैं। इनका जो श्रद्धान - 'ऐसा ही है, अन्यथा नहीं है' - ऐसा प्रतीति भाव, सो तत्त्वार्थश्रद्धान; तथा विपरीताभिनिवेश - जो अन्यथा अभिप्राय उससे रहित सो सम्यग्दर्शन है।

यहाँ विपरीताभिनिवेश के निराकरण के अर्थ 'सम्यक्' पद कहा है, क्योंकि 'सम्यक्' ऐसा शब्द प्रशंसावाचक है; वहाँ श्रद्धान में विपरीताभिनिवेश का अभाव होने पर ही प्रशंसा सम्भव है - ऐसा जानना।

प्रश्न : 9. तत्त्वार्थ सात ही क्यों होते हैं ?

उत्तर : यद्यपि तत्त्वार्थ अनन्त हैं; उनका सामान्य-विशेष से अनेक प्रकार प्ररूपण हो, परन्तु यहाँ एक मोक्ष का प्रयोजन है, इसलिये दो तो जाति अपेक्षा सामान्यतत्त्व और पाँच पर्यायरूप विशेषतत्त्व मिलाकर सात ही तत्त्व कहे।

प्रश्न : 10. यहाँ विपरीताभिनिवेशरहित श्रद्धान करना कहा, सो प्रयोजन क्या ?

उत्तर : अभिनिवेश नाम अभिप्राय का है। सो जैसा तत्त्वार्थश्रद्धान का अभिप्राय है वैसा न हो, अन्यथा अभिप्राय हो, उसका नाम विपरीताभिनिवेश है। तत्त्वार्थश्रद्धान करने का अभिप्राय केवल उनका निश्चय करना मात्र ही नहीं है, वहाँ अभिप्राय ऐसा है कि जीव-अजीव को पहिचानकर अपने को तथा पर को जैसा का तैसा माने, आस्रव को पहिचानकर उसे हेय माने, बन्ध को पहिचानकर उसे अहित माने, संवर को पहिचानकर उसे उपादेय माने, निर्जरा को पहिचानकर उसे हित का कारण माने तथा मोक्ष को पहिचानकर उसको अपना परमहित माने - ऐसा तत्त्वार्थश्रद्धान का अभिप्राय है, उससे उल्टे अभिप्राय का नाम विपरीताभिनिवेश है। सच्चा तत्त्वार्थश्रद्धान होने पर इसका अभाव होता है, इसलिये तत्त्वार्थश्रद्धान है सो विपरीताभिनिवेशरहित है - ऐसा यहाँ कहा है।

प्रश्न : 11. शास्त्रों में तो सम्यग्दर्शन की अनेक परिभाषायें आती हैं ? कौनसी? बतायें।

उत्तर : शास्त्रों में 1. देव-शास्त्र-गुरु का श्रद्धान सम्यग्दर्शन, 2. स्वपर का श्रद्धान सम्यग्दर्शन, 3. आत्मा का श्रद्धान सम्यग्दर्शन, 4. तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन - इसप्रकार परिभाषायें मिलती हैं; परन्तु इन सबमें परस्पर अविनाभाविपना होने से कोई विरोध नहीं है। प्रयोजन की अपेक्षा से अलग-अलग प्रकार के कथन किये गये हैं।

प्रश्न : 12. सम्यग्दर्शन के लक्षण का कथन ऐसे अलग-अलग प्रकार से करने का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर : तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण कहा है, वहाँ तो यह प्रयोजन है कि इन तत्त्वों को पहिचाने तो यथार्थ वस्तु के स्वरूप का व अपने हित-अहित का श्रद्धान करे तब मोक्षमार्ग में प्रवर्ते।

आपापर का भिन्न श्रद्धान लक्षण कहा है, वहाँ तत्त्वार्थश्रद्धान का प्रयोजन जिससे सिद्ध हो उस श्रद्धान को मुख्य लक्षण कहा है। जीव-अजीव के श्रद्धान का प्रयोजन आपापर का भिन्न श्रद्धान करना है तथा आस्रवादिक के श्रद्धान का प्रयोजन रागादिक छोड़ना है, सो आपापर का भिन्न श्रद्धान होने पर परद्रव्य में रागादि न करने का श्रद्धान होता है। इसप्रकार तत्त्वार्थश्रद्धान का प्रयोजन आपापर के भिन्न श्रद्धान से सिद्ध होता जानकर इस लक्षण को कहा है।

आत्मश्रद्धान लक्षण कहा है, वहाँ आपापर के भिन्न श्रद्धान का प्रयोजन इतना ही है कि आपको आप जानना। आपको आप जानने पर पर का भी विकल्प कार्यकारी नहीं है। ऐसे मूलभूत प्रयोजन की प्रधानता जानकर आत्मश्रद्धान को मुख्य लक्षण कहा है।

देव-गुरु-धर्म का श्रद्धान लक्षण कहा है, वहाँ बाह्य साधन की प्रधानता की है; क्योंकि अरहन्तदेवादिक का श्रद्धान सच्चे तत्त्वार्थ श्रद्धान का कारण है और कुदेवादिक का श्रद्धान कल्पित तत्त्वश्रद्धान का कारण है। सो बाह्य कारण की प्रधानता से कुदेवादिक का श्रद्धान छुड़ाकर सुदेवादिक का श्रद्धान कराने के अर्थ देव-गुरु-धर्म के श्रद्धान को लक्षण कहा है।

प्रश्न : 13. ये चार लक्षण कहे, उनमें यह जीव किस लक्षण को अंगीकार करे ?

उत्तर : मिथ्यात्व कर्म के उपशमादि होने पर विपरीताभिनिवेश का अभाव होता है। वहाँ चारों लक्षण युगपत् पाये जाते हैं। विचार अपेक्षा मुख्यरूप से तत्त्वार्थों का विचार करता है, आपापर का भेदविज्ञान करता है, आत्मस्वरूप ही का स्मरण करता है या देवादिक का स्वरूप विचारता है। इसप्रकार ज्ञान में तो नानाप्रकार विचार होते हैं, परन्तु

श्रद्धान में सर्वत्र परस्पर सापेक्षपना पाया जाता है। तत्त्वविचार करता है तो भेदविज्ञानादि के अभिप्राय सहित करता है और भेदविज्ञान करता है तो तत्त्वविचारादि के अभिप्राय सहित करता है। इसीप्रकार अन्यत्र भी परस्पर सापेक्षपना है; इसलिये सम्यग्दृष्टि के श्रद्धान में चारों ही लक्षणों का अंगीकार है।

प्रश्न : 14. सम्यक्त्व के लक्षण तो अनेक प्रकार कहे, उनमें तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण को मुख्य किया सो क्या कारण है?

उत्तर : तुच्छबुद्धियों को अन्य लक्षण में प्रयोजन प्रगट भासित नहीं होता व भ्रम उत्पन्न होता है। इस तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण में प्रगट प्रयोजन भासित होता है, कुछ भ्रम उत्पन्न नहीं होता, इसलिये इस लक्षण को मुख्य किया है।

तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण में तो देवादिक का श्रद्धान व आपापर का श्रद्धान व आत्मश्रद्धान गर्भित होता है, वह तो तुच्छबुद्धियों को भी भासित होता है। अन्य लक्षण में तत्त्वार्थश्रद्धान का गर्भितपना विशेष बुद्धिमान हों उन्हीं को भासित होता है, तुच्छबुद्धियों को नहीं भासित होता; इसलिये तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण को मुख्य किया है।

इसलिये यहाँ सर्वप्रकार प्रसिद्ध जानकर विपरीताभिनिवेश रहित जीवादि तत्त्वार्थों का श्रद्धान ही सम्यक्त्व का लक्षण बताया है।

